भारतकी उपज

लेखक—

श्रीरमाशङ्कर सिंह 'मृदुल'

प्रकाशक—

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

२०३, हरिसन रोड, कलकत्ता।

ब्रांच—ज्ञानवापी, काशी।

प्रथम बार]　　　　१९१०　　　　[मूल्य १॥)

प्रकाशक—
श्रीवैजनाथ केडिया
प्रोप्राइटर—
हिन्दी पुस्तक एजेंसी
२०३, हरिसन रोड, कलकत्ता

मुद्रक—
पं० काशीनाथ तिवारी
"वणिक प्रेस"
१, सरकार लेन, कलकत्ता।

विषय-सूची

भारतकी उपज

धानकी खेती और उसका व्यवसाय

बङ्गदेशमें खेतोंको पार करती हुई रेलगाड़ीमें सफर करनेपर मानसूनके दिनोंमें एक अजीब समाँका आनन्द प्राप्त होता है। चारों ओर जहांतक दृष्टि जाती है, हरियाली ही हरियाली दिखलाई देती है। मौसम ज्यों-ज्यों बीतता जाता है त्यों-त्यों हरियाली सलोने पीत रङ्गमें बदलती जाती है। खिड़कीके बीचसे झांकते हुए यात्रीको ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सोनेके समुद्रमें नौका-विहार कर रहा है। सोनेका वह कल्पित समुद्र डूबते हुए अंशुमाली और भारतके धनका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करता है। भारतका वह धन, सोनेका वह कल्पित समुद्र धानकी खेती है।

धान भारतीयोंका मुख्य भोजन ही नहीं है, वरन् यह उनके सबसे भारी व्यवसायका मसाला भी है और वास्तवमें है यह हिन्दुस्तानियोंके धनोपार्जनका मुख्य साधन।

सारे भारतवर्षमे ६७१३४६३६ एकड़ धानकी खेती होती है जिसमें २११३२५०० एकड़ केवल बङ्गालप्रान्तमें होती है। बंगालकी आबादीके आठ हिस्सेमें पांच हिस्सेकी जनता केवल

खेती करके ही अपना जीवन निर्वाह करती है। उनकी वार्षिक आय १४७६३३८०० रु० के लगभग है।

धान कई प्रकारके होते हैं और उनके अलग-अलग सैकड़ों नाम हैं। बङ्गालके बाजारोंमें सफेद पटना, खुदिया, परना, चीनीसुकर, दाउदखानी, बल्लम और राढ़ी मुख्य-मुख्य किस्मके चावल हैं। बाहर जानेवाले धानोंमें कजला जो लङ्काको भेजा जाता है प्रसिद्ध है। यूरोपीय महासमरके पहले सफेद पटना हैम्बर्ग लिवरपुल और ब्रीमेनको भेजा जाता था। बल्लम ट्रिनिडा मार्टिनिक और फारसकी खाड़ीमें भेजा जाता है। राढ़ीके लिये मौरिशशमें बड़ी मांग है।

सभी जगहोंपर धानकी खेती मेंड़ासे बँधे हुए खेतोंमें होती है। बंगालमें इन मेड़ोंको 'माल' कहते हैं। ये मेड़ पानीको खेतमें रोक रखनेके लिये बांधे जाते हैं।

धानकी खेतीके लिये खेतोंका समतल होना आवश्यक है। पानी और जोताई, ये ही दो वस्तुएँ रैयतोंकी आवश्यक साधन हैं। पानी तो वे प्रकृति द्वारा वर्षासे या कुओं और नहरोंसे पा जाते हैं, किन्तु भारतके किसान जोतनेके लिये पुराने समयके हल, जुआठ और पैने हीसे काम लेते हैं। आज-कलके वैज्ञानिक युगके आविष्कारोंका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। खेतों-के लिये खाद भी एक आवश्यक वस्तु है। भारतीय किसान अपने ढोरोंके गोबर और अपने घरोंके कूड़े-करकट ही खेतमें डालकर संतोष कर लेते हैं। बंगाल प्रान्तमें तो इस प्रकारकी

भारतकी उपज

धानके खेतमें हेंगा दिया जा रहा है।
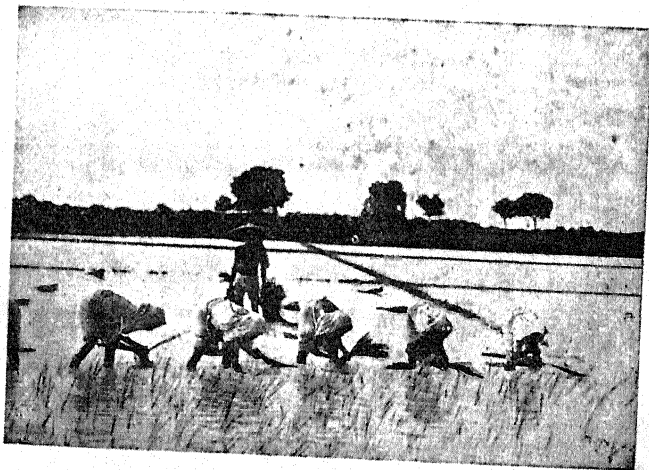
धानकी रोपनी हो रही है।

भी खाद् खेतोंमें नहीं डाली जाती। ढोरोंके गोबर ईंधन जलानेके लिये गोंइठेके रूपमें पाथे जाते हैं।

धान तीन तरहसे बोया जाता है। एक तो पतले हल द्वारा बीजको बांसकी एक नलीसे हराईमें जोतनेके साथ-ही-साथ छोड़ दिया जाता है। उस पतले हलको विहार और युक्तप्रांतमें टाड़ कहते हैं। टाड़ द्वारा बोया हुआ धान हराईके ठीक बीचोबीच बैठता जाता है और पीछे तथा अगल-बगलसे मिट्टी आकर उसे ढंकती जाती है। टाड़ द्वारा बोये जानेवाले खेत अप्रैल हीसे जोते जाने लगते हैं। सारे भारतवर्षके हल करीब-करीब एक ही प्रकारके होते हैं। जो हल जितना ही हल्का होता है उसकी हराई उतनी ही कम चौड़ी और कम गहरी होती है। बङ्गालके हल बहुत हल्के होते हैं जिन्हें हलवाहे रोज-रोज आसानीसे खेतोंमें लिये जाते हैं। युक्तप्रान्तके हल कुछ भारी होते हैं लेकिन दक्खिनके हल बहुत भारी होते हैं और एक-एक हलमें चारसे छः तक बैल जोते जाते हैं। बङ्गालकी हराइयां ६ से ८ इञ्चतक और दक्खिनकी १२ इञ्चतक गहरी होती हैं। टाड़ द्वारा बोया हुआ खेत सीधी सीधी रेखाओंसे भरा रहता है। अतः उखाड़ते समय बड़ी आसानी पड़ती है।

धान बोनेका दूसरा ढङ्ग हाथसे बीजको छींट देना है। खेतको पानीसे पटा कर चतुर किसान हाथ हीसे बीजको छींट देते है।

तीसरा ढग है बांसके डण्डों द्वारा जमीनमें छेद् कर उसमें बीजको छोड़ देना।

सालके प्रारम्भमें जो वर्षा होती है उसीके साथ-साथ बीज बो दिया जाता है। चार, पांच सप्ताहके बाद वे बढ़कर रोपने योग्य हो जाते हैं। धानको रोपनेके लिये जो अङ्कुर उखाड़ा जाता है वह बहुत ही मुलायम होता है। उसको उखाड़ते समय बड़ी सावधानी करनी पड़ती है ताकि अंकुरकी जड़ें टूट न जायं। अंकुर उखाड़नेके पहले उस खेतको पर्याप्त पानीसे खूब पटा देते हैं। जब मिट्टी फूल जाती है तब अंकुरका उखाड़ना शुरू किया जाता है। उखाड़नेके बाद शीघ्र ही रोपाई प्रारम्भ की जाती है। छः-छः या आठ-आठ इञ्चके अन्तरपर अंकुर फिर गीली मिट्टीमें रोप दिये जाते हैं। यह काम बड़ी शीघ्रतासे किया जाता है। रोपाई सीधी और समानान्तर रेखाओंमें होती है। एक ही हफ्तेमें अङ्कुर जड़ पकड़ लेता है और गहरे हरे रङ्गका हो जाता है। बङ्गालमें रोपनीको 'रोबा' कहते हैं।

रोपाई खतम हो जानेके बाद किसानोंका चिन्तामय काल आ जाता है। किसान प्रति दिन आशंकित होकर कई बार देरतक आकाशकी ओर देखा करते हैं। यदि पानीकी कमी हुई तो नमीकी कमीके कारण धान सूख जाते हैं। यदि अति वृष्टि हुई तो धान सड़ जाते हैं। अनावृष्टि या अल्पवृष्टिकी अवस्थामें युक्त प्रान्तके किसान ढेकुल या मोट द्वारा खेतोंको सींचते हैं। बङ्गालके किसान सेवेनी या डोंगा कल द्वारा सिंचाईका काम करते हैं। 'सेवेनी' लोहेकी बनी हुई होती है और डोंगाकल नारियल या ताड़के पेड़का।

धानकी कटनी हो रही है।

धान काटनेवाली एक स्त्री।

धानकी कटनी दिसम्बरमें प्रारम्भ होती है। धान काटकर बोझा बांधकर खेतमें छोड़ देते हैं। वहींपर वह सूखता है और तब औरतों द्वारा गांवके खलिहानमें पहुंचाया जाता है। खलिहानोंमें या तो बैलोंकी दंवरी चलाकर या डंडों द्वारा पीटकर अन्नको पुआलसे अलग करते हैं। तब पुआलको सजाकर गांवके नजदीक जमा कर देते हैं।

चावल तैयार करनेके ढंग

धानके छिलकेको जब अलग कर देते हैं तो उसे चावल कहते हैं। यह चावल पहले गन्दा होता है। इस चावलको छांटकर कन और भूसीको इससे फटककर अलग कर देते हैं तो उसे छांटा चावल या साफ किया हुआ चावल कहते हैं। छांटते समय चावलके जो टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं उन्हें कुड्डी या खुद या खुदिया चावल कहते हैं। चावलको और बढ़िया और उत्तम बनानेके लिये उसे फिर भेड़के चमड़े पर रखकर साफ और पालिश करते हैं। साधारण अरवा चावलमें ५ से २० प्रति सैकड़ा तक कन और भूसी मिली रहती है। यूरोपमें भेजे जानेपर ये चावल फिर मिलोंमें छांटकर साफ किये जाते हैं।

भूजिया (उसिना) चावलके लिये यूरोपमें कोई बाजार नहीं है। किन्तु भारतवर्ष, मलाया और लङ्कामें इस चावलकी बड़ी मांग है। भूजिया चावल तैयार करनेका यह नियम है कि धान्को पहले चालीससे लेकर अड़तालिस घण्टेतक ठंडे पानीमें भीगो

कर रख छोड़ते हैं। फिर उसे २० या ३० मिनट तक आगपर उबालते हैं। उसके बाद उसे सुखाकर छांट देते हैं। इस भूजिये चावलमें और चावलोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिवर्द्धक वस्तु रहती है। इसका कारण यह है कि इसमें और चावलोंकी अपेक्षा छांटनेके वक्त कम चोट लगानी पड़ती है। यद्यपि यह देखनेमें पीला लगता है, पर उबालने पर इसका भात सफेद होता है। अरवा और भूजियाके अतिरिक्त मिलका भी चावल होता है। मिलोंमें धान पहले शेकरपर रखा जाता है। यहांपर भूसी और चावल अलग-अलग हो जाते हैं तब चलनीपर ये दोनों रखे जाते हैं। यहां चावल भूसीसे अलग हो जाता है तब कल ही द्वारा उसे हवा करते हैं। इसके बाद जो चावल तैयार होता है उसे लूनजेन कहते हैं। लूनजेन फिर कोन और पियर्लर द्वारा छांटा जाता है जिससे चावलका बाहरी गर्दा साफ हो जाता है। चावल तब फिर चलनीमें भेजा जाता है। वहांपर खुदिया चावल अलग हो जाता है और ये दोनों अलग-अलग बोरोंमें कस दिये हैं। जो चावल यूरोप जानेवाले होते हैं वे लकड़ी और तारके वेन सिलेण्डर पर जो भेड़के चमड़े से ढका रहता है, रखकर पालिश किये जाते हैं।

आयात और निर्यात

साधारणतः धान किसानोंके यहांसे मिलकी ओरसे काम करनेवाले आदमियोंके द्वारा या स्थानीय बनियों द्वारा जिन्हें

उनके दलाल कहते हैं, खलिहानोंमें लाया जाता है। जो मिल अपनी-अपनी नाव या जहाज रखती है, वह फसलके शुरूमें ही अपने दलालको रुपया दे देती है। दलाल या खरीदनेवाला ज्योंही रुपया और नाव पाता है वह शीघ्र ही देहात और खेतोंमें जाता है, धान खरीदता है और तौलनेके लिये मिलोंमें ले आता है। तौलनेमें बड़ी जल्दी की जाती है। तब धान गोदाममें रखा जाता है और धीरे-धीरे रेल द्वारा निर्यातके लिये मुख्य-मुख्य केन्द्रोंपर भेजा जाता है।

बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा तथा आस-पासके प्रान्तोंमें सारे ब्रिटिश भारतकी उपजका ४७ प्रतिशत धान उपजता है। ये सब कलकत्तेसे विदेश भेजे जाते हैं। युद्धके पहले मौरिशश और लङ्कामें ही चावल भेजा जाता था। किन्तु आजकल क्यूबा, वेस्ट इण्डीज और दक्षिण अफ्रिकाके साथ बड़े जोरोंसे चावलका व्यापार चल रहा है।

हर प्रकारके चावलके निर्यातपर चुंगी लगाई गई है। इससे गवर्नमेण्टको ११०५०००० रु० प्रति साल चुंगी वसूल होती है।

धानका वार्षिक निर्यात ५०००० टन है जिसका अधिक भाग लङ्का जाता है। चावल ग्रेट ब्रिटेनमें हर साल ११०५००० टन जाता है जिसका दाम करीब-करीब ११०५०००००० रुपया, दूसरे देशोंमें ६१४००० टन चावल भारतसे बाहर जाता है जिसका दाम करीब-करीब ८६०५००००० रुपया होता है।

रूई और सूतका व्यवसाय
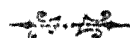
वैदिक कालसे ही भारतवर्षमें रूई (कपास) की खेती होती आई है। सिन्ध प्रान्तमें महेंजोद्रोके पास हालकी खोदाईमें चांदीके बर्तनसे सटा हुआ डोरा मिला है, जो निस्सन्देह सूतका है। सर जान मार्शल पुरातत्त्व विभागके डाइरेक्टर जेनरलका कहना है कि जिस जगह खोदाई हो रही है, वह स्थान ईसासे २७०० वर्षसे लेकर ३५०० वर्ष पूर्वका पुराना है। अतः यह निश्चय है कि बहुत प्राचीन कालमें भी रूईके सूते भारतमें बनते थे।

मध्य युगमें भारतके मुसलमान रूई और सूतके प्रसिद्ध व्यवसायी रह चुके हैं और जितने यात्री भारतपर्यटनके लिये आये हैं उन्होंने मुसल्मानों द्वारा किये गये रूईके व्यवसायका वर्णन अपने वृतान्तमें लिख छोड़ा है। बर्नियर तो उस समयके सूतकी प्रशंसा करते हुए लिखता है कि कुछ सूती छीट ऐसे महीन होते थे कि हाथसे छूनेपर पता ही नही चलता था और डोरे ऐसे होते थे जो ध्यानसे देखनेपर भी मुश्किलसे दिखाई देते थे। ढाकेके मुसल्मानोंकी चतुराईकी प्रशंसासे आज भी इतिहासोंके पन्ने रंगे हैं।

आजकल संसारमें रूईके बेचनेवाले प्रधान रूपसे तीन ही देश हैं। क्रमसे ये अमेरिका, भारत और मिश्र हैं। भारतवर्ष पहले

भारतकी उपज

कपासके पौधे छांटे जा रहे हैं।

गाड़ियोंमें भर-भरकर कपास नागपुरके बाजारमें लायी जा रही है।

हाथके चरखे और करघेकी सहायतासे ही कपड़े बनाकर अपनी भीतरी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर बाहर माल भेजता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके आनेपर कपासकी खेतीकी उन्नति हुई और उसपर विशेष ध्यान दिया गया। सबसे पहले १७९० ई० मे प्रयोग करनेके लिये माल्टा और मौरिशश टापूसे कपासके कुछ बीज आ गये, किन्तु भारतकी आवहवामें इनमें उन्नति नहीं हो सकी। इसके बाद सन् १८४१ में कम्पनीके कोर्ट आफ डाइरेक्टर्सने बारह मालियोंको अमेरिकासे बुलाया और उन्हें भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें कपासकी वैज्ञानिक ढंगसे बोआई करनेकी आज्ञा दी। उनका यह प्रयोग भी असफल रहा। लार्ड कर्जनके जमानेमें जब १९०६ ई० में इम्पीरियल एग्रिकल्चरल सर्विसकी स्थापना हुई तो उसने भी बहुतसे प्रयोग किये। अन्तमें वह कमिटी इसी निष्कर्षपर पहुंची कि भारतका अपनी सदियोंसे पुराना कपासका बीज ही भारतके लिये उपयुक्त है। इम्पीरियल एग्रिकल्चरल सर्विस (कमेटी) ने एक बड़ा ही महत्वपूर्ण काम किया। पहले भारतके किसान कपासके भिन्न-भिन्न किस्मोंके बीजको एक हीमें मिलाकर बोते थे जिससे रूईकी क्वालिटी अच्छी नहीं हो पाती थी। उपर्युक्त कमिटीने भिन्न-भिन्न प्रकारके बीजों को छांट कर अलग कर दिया और एक खेतमें एक ही किस्मकी कपास बोयी जाने लगी। भारतीय सरकारके कृषिविभागने समय-समयपर अच्छे बीज बेंच कर और तकावी देकर जनताको उत्तम कपास बोनेके लिये आकर्षित किया है।

सन् १९१७ में गवर्नमेंटने कपासकी उन्नतिके लिये विचार करनेकी एक कमिटी बैठायी। उस कमेटीने १९१९ ई० में अपनी रिपोर्ट तैयार कर सिफारिश की कि एक ऐसी स्थायी कमिटी बनाई जाय जिसका मुख्य स्थान बम्बईमें रहे और जो व्यापार और कृषिविभागके बीचमें काम करे। १९२३ ई०में इण्डियन काटन सेस ऐक्टके अन्दर स्टेट्यूटरी कमिटीकी स्थापना हुई। इस कमिटीको ब्रिटिश भारतसे बाहर जानेवाले और मिलोंमें खपत्त होनेवाले रूईके गट्ठरोंपर चुङ्गी लगाकर फण्ड दिया गया। इस कमिटीका मुख्य ध्येय किसी तरहसे भारतमें कपासके व्यवसाय-की उन्नति करना है और तबसे यह कमिटी लगातार प्रयोग करती आती है।

१९२३ ई० में गवर्नमेंटने "काटन ट्रैन्सपोर्ट ऐक्ट" बनाकर एक और उत्तम काम किया। इस ऐक्टके अनुसार बुरी कपास उपजानेवाली जगहकी कपास नोटिस दी हुई किसी दूसरी अच्छी कपास उपजानेवाली जगहपर नहीं लाई जा सकती। पहले किसान अच्छी-बुरी सभी कपासको एकमें मिला देते थे। इस ऐक्टके पास हो जानेसे अब अच्छी कपासकी उपज बढ़ने लगी है। यह ऐक्ट उपर्युक्त कमिटीके परिश्रमसे ही पास हुआ।

स्टेट्युटरी कमिटीने सन् १९२५ में गवर्नमेंट द्वारा "काटन जिनिङ्ग ऐण्ड प्रेसिङ्ग फैक्टरीज ऐक्ट" पास कराया जिसके द्वारा मिलवाले प्रेस करते समय पानी देकर या और किसी तरह धोखा न दे सकें। धोखा व्यापारमें विषका-सा बुरा असर करता है।

भारतकी उपज

कपासके खेतोंमें काम करनेवाली एक स्त्री।

कमिटीने गवर्नमेण्टको इसके लिये बाध्य किया कि बाहरसे रूई भारतमें न आने पावे और इसीलिये उसने अमेरिकासे आयी हुई रूईको हाइड्रोसाइएनिक एसिड गैससे बासित कर देनेके लिये बाध्य किया ताकि मेक्सिकोकी रूई भारतमें न आने पावे।

भारतकी रूईके खरीदारोंमें प्रधान रूपसे जापान, जर्मनी, बेलजियम, इटली, आस्ट्रिया, हंगरी, फ्रान्स, और ब्रिटेन हैं। उपर्युक्त खरीदारोंके नाम क्रमानुसार दिये गये हैं। उपर्युक्त कमिटी भारतीय रूईके लिये और भी खरीदारोंकी खोजमें है। लङ्काशायर भारतीय रूईको अब विशेष चाहने लगा है। यह भी आशा की जाती है कि भारत थोड़े ही वर्षोंमें अच्छी-से-अच्छी रूई लङ्काशायरको देगा।

भारतकी रूईका बहुत बड़ा हिस्सा भारती मिलों द्वारा सूती माल तैयार करनेमें खपत होता है। भारतकी मिलोंमें प्रधानतः सूत, कोरे कपड़े, छींट और रङ्गीन कपड़े तैयार होते और बाहर भेजे जाते हैं। सूतकी मांग स्वयं भारतमें ही रहती है। भारतसे सूत चीन जापान भी जाया करता था, पर वहां जापानका सूत अधिक आने लगा और भारतके लिये प्रतियोगितामें खड़ा रहना कठिन हो गया। अतः इस सम्बन्धमें चीनके बाजारसे भारतका पैर उखड़ गया। अब पूर्वमें स्टेट सेटिलमेण्टका बाजार और पश्चिममें फारसकी खाड़ीके पासका भू-भाग, अदन तथा लेवान्तके बाजार ही ऐसे स्थान हैं जहां भारतका सूत जाता है और उसकी वहां मांग भी अच्छी है। भारतके सूतको विदेशोंमें बहुत

कम सफलता मिल सकती है; क्योंकि सभी स्थानोंमें उसे भयङ्कर प्रतियोगिताका सामना करना पड़ता है। लेवान्त और काला-सागरके पासवाले जगहोंमें इटलीका भी सूत आता है। मिश्रके बाजारमें उसे ब्रिटेनसे मुकाबिला करना पड़ता है। कुछ समयसे अमेरिका भी सूतके बाजारमें आ रहा है और आगे भी बढ़ रहा है।

भारतकी भलाईके विचारसे यहांके कोरे कपड़े के लिये सर्व-श्रेष्ठ बाजार स्वयं घरका ही बाजार है। फिर भी यदि कोशिश करें तो बम्बईकी देख-रेखमें फारस, फारसकी खाड़ीके बन्दरोंमें, अदन, पूर्व अफ्रिकाके किनारे, मौरिशश आदिके बाजारोंमें सामू-हिक उद्योग द्वारा भारतकी मिलोंका कोरा कपड़ा बेचा जा सकता है। इसी प्रकार फ्रेञ्च, अफ्रिका, ब्रिटिश अफ्रिका और जर्मन अफ्रिकाके बाजारोंमें इसके बेचनेका प्रयत्न किया जा सकता है। अदनके बन्दरने बम्बईके महत्वको पूरा धक्का दिया है, तो भी यदि भारतीय व्यापारी प्रयत्न करें तो प्रतियोगितामें अदनसे बाजी मार ले जायंगे।

भारतके बने छींट और रङ्गीन कपड़े अधिकतर स्ट्रेट सेटिल-मेण्टके बाजारमें बिकते हैं। ऐसे बाजारमें ऐसे मालका प्रायः ५० प्रतिशत भारतीय मिलोंका होता है। यह माल प्रायः मद्रास-के बन्दरसे रवाना होता है। इसके बाद सिलोनके बाजारमें भी भारतके रङ्गीन कपड़े की मांग रहती है। इसके अतिरिक्त फारस, श्याम, पूर्व अफ्रिका अदन और फारसकी खाड़ीके बन्दरोंमें भी भारतके इस मालकी अच्छी मांग रहती है।

अनामली जङ्गलमें काठका व्यवसाय

प्राचीन कालमें मालाबारके सागौनकी लकड़ियां बड़े-बड़े मजबूत समुद्री जहाज बनानेके लिये सबसे अधिक उपयुक्त समझी जाती थीं। वे आस-पासके देशोंकी लकड़ियोंसे अधिक मजबूत और टिकाऊ होती थीं। बर्माके सागौनकी लकड़ियोंके बाजारमें आनेसे पहले श्याम और जावाके सागौन भी बहुत मशहूर थे और उनसे भी समुद्री जहाज बनानेका काम लिया जाता था। किन्तु मालाबारके सागौनके लिये मांग इतनी अधिक थी कि उसकी पूर्तिके लिये जङ्गलके मालिकोंने बहुमूल्य जङ्गलोंको निर्दय हो कटवा डाला। उन्हें भविष्यकी उपजका कुछ ख्याल ही न रहा। आखिरकार वह दिन आ गया जब कि उपज इतनी कम होने लगी कि मांगकी पूर्ति न हो सकी और अच्छी क्वालिटीकी लकड़ियों-का बिलकुल अभाव-सा हो गया। मालाबारके पहलेके सागौनकी अच्छी लकड़ियोंके बदलेमें बाजारमें खराब लकड़ियां भेजी जाने लगीं। परिणाम यह हुआ कि दूसरे देशोंको अपना लकड़ीका व्यवसाय बढ़ानेका सुअवसर मिला। बर्मा और समुद्रपार दूसरे देशोंसे अच्छी-अच्छी लकड़ियोंका चालान प्रारम्भ हो गया।

तबसे लेकर आजसे कुछ दिन पहले तक मालाबारके सागौन-की बिक्री कम रही जिससे अब अच्छी क्वालिटीके पेड़ भी जङ्गलमें

बहुतायतसे जमने लगे। इधर गवर्नमेंटके फारेस्ट डिपार्टमेंट और देहरादूनके फारेस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूटने अपने प्रयोगों द्वारा यह दिखा दिया कि बर्मा और मालाबारके सागौनमें अब कोई भी अन्तर नहीं रह गया है। मजबूतीमें मालाबारके सागौन इतनी उन्नति कर गये हैं कि अब बर्माके सागौनके साथ-साथ मालाबारके सागौन भी दूसरी लकड़ियोंकी मजबूती नापनेके लिये परिमाण मान लिये गये हैं।

उपर्युक्त दोनों संस्थाएं और बातोंमें तो सहमत हो गईं कि दोनों किस्मकी लकड़ियाँ समान हैं किन्तु घनत्वके विषयमें दोनोंकी रायें नहीं मिलतीं। इसका कारण यह है कि बर्मावाले पेड़को काटकर जमीन पर गिरानेके दो साल पहले उसकी जड़को चारों तरफसे काटकर खोखला बना देते हैं। ऐसा करनेसे पेड़मेंका बहुतसा रस, पानी और तेल बह निकलता या सूख जाता है। ऐसा करनेसे पेड़के लट्ठे अधिक मजबूत और टिकाऊ होते हैं।

बर्माके पक्षपातियोंका कहना है कि दो साल पहले जड़ काटनेसे लकड़ीमें कोई अन्तर नहीं आने पाता, न किसी प्रकारका तेल ही सूख जाता है। फारेस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूटके आँकड़ोंकी ओर संकेत कर वे कहते हैं कि पेड़को खोखला कर काटने या सीधे काटनेमें लकड़ोके गुणमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता। इस बातसे पता चलता है कि मजबूतीके बारेमें बर्मा और मालाबारके सागौनमें कुछ भी फर्क नहीं है। अब टिकाऊपनमें अन्तर
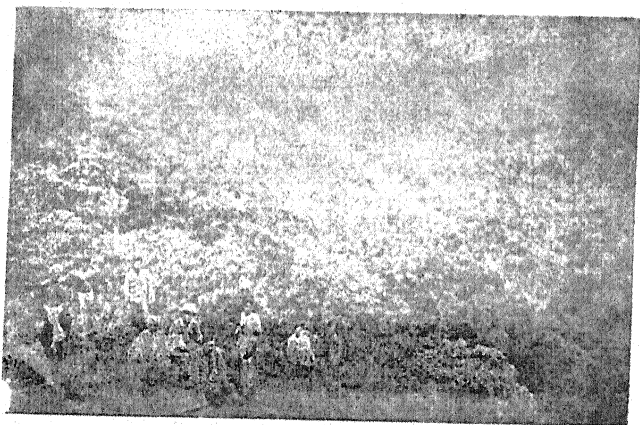
गुलण्डीकी श्रेणियोंमें अनामली रिजर्व जङ्गलका दृश्य ।
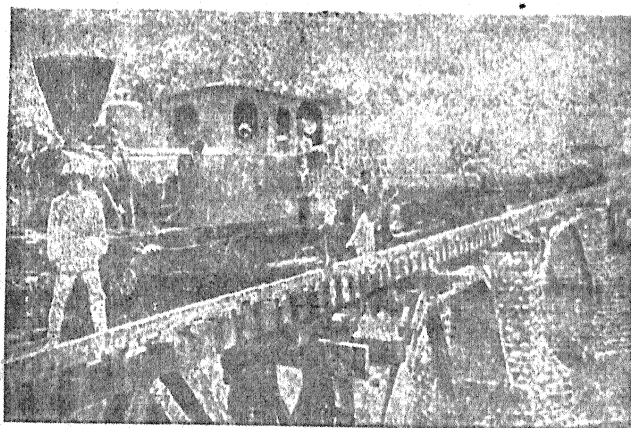
अनामलोकी लट्ठे ढोने वाली माल गाड़ी ।

होता है कि नहीं, इसका निश्चय प्रयोगशालाके प्रयोगों द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिये बहुत समयकी जरूरत है। बहुत वर्षों तक ध्यानपूर्वक परीक्षा करनेपर इसका पता चलेगा कि कहांके सागौन अधिक टिकाऊ होते हैं।

बनस्पतिशास्त्रके कुछ विद्वानोंका कहना है कि जमीनपर गिरानेसे पहले पेड़ोंकी जड़ोंको काटनेका मुख्य उद्देश्य लकड़ीके गुणमें कोई विशेष परिवर्तन लाना नहीं बल्कि लकड़ीको हल्का बनाना है ताकि वह पानीमें आसानीसे उतरा सके। जावामें भी पहले लोगोंका ख्याल था कि पेड़को सुखा देनेसे लकड़ीमें अधिक टिकाऊपन आ जाता है किन्तु बहुत दिनोंके अनुभव द्वारा उन्हें मालूम हुआ कि पेड़ोंको इस तरह सुखानेसे लकड़ियोंको काटकर लट्ठा बनानेमें बाधा पहुंचती है। अत पेड़ोंको दो-तीन वर्ष पहले ही सुखाकर काटनेसे कुछ भी विशेष फायदा नहीं होता। कुछ भी हो, यह विषय तो खोज करनेवालोंका है। साधारण पाठकके लिये इतना जानना काफी है कि ब्रह्म और मालावारके सागौन एक समान हैं।

दक्षिणके अनामली जंगलका कुछ हिस्सा गवर्नमेण्टकी देख-रेखमें है। उसका कुछ हिस्सा अनामली टिम्बर ट्रस्ट लिमिटेडको पट्टा दिया गया है। अनामलीके सागौन 'मद्रास फारेस्ट डिपार्टमेण्ट' द्वारा काफी सुरक्षित रखे गये हैं। कुछ वर्षों से जंगलके पूर्वी हिस्सेकी कटाई हो रही है किन्तु जंगलका पश्चिमी हिस्सा ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया गया है।

चीफ कन्जरवेटर मि० आर० डी० रिचमान्ड और ला मेम्बर सर एम० कृष्णम् नैयरकी दूरदर्शितासे कोचीनकी रियासत और कोयम्बटूर जिलेके सरहदके आस-पासकी यूलैण्डीकी श्रेणी अनामली टिम्बर ट्रस्ट लिमिटेडको पट्टे पर दे दिया गया है जो ट्रस्ट आजकल सागौनको काटकर बाजार भेजनेमें जी-जानसे लगा हुआ है।

अनामलीकी पहाड़ियां पश्चिमी घाटकी एक भाग हैं जो दक्षिणमें नीलगिरितक फैली हैं और पालघाटसे एक दूसरेसे अलग होती हैं। उन्हीं श्रेणियोंमें, दक्षिणके पहाड़ोंकी सबसे ऊंची अनामुदीकी चोटी है जो ८८५० फीट ऊंची है। किन्तु जंगल १५०० और ३००० फीटकी ऊंचाईके भीतर ही फैले हुए हैं।

यूलैण्डीकी श्रेणियोंमें भारतवर्षके सबसे अच्छे सागौन पाये जाते हैं। सागौनके अलावा और भी बहुतसे जंगली पेड़ वहांपर होते हैं। छोटे बड़े बांसोंके भी बहुत घने जंगल हैं।

आज-कलके बाजारोंकी मांगकी पूर्तिके लिये सिर्फ सागौनके ही पेड़ काटे जाते हैं। आज-कल भारतवर्षमें कागजका व्यवसाय भी संसारके साथ प्रतियोगिता करनेमें जुटा है। अनामलीमें बहुतसा जंगली लकड़ियां और घास ऐसे हैं जिनसे कागजके लिये गूदा तैयार किया जा सकता है। अनामली जङ्गलकी उन लकड़ियों और घासोंके लिये केवल भारतवर्षमें ही नयी इङ्गलैंडकी ह्वाइट लाक मोटर कम्पनी' आदिमें भी मांग है।

भारतकी उपज —
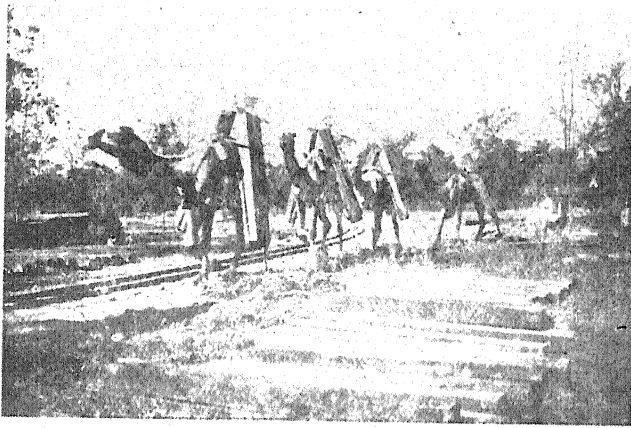
चोरी हुई लकड़ी ऊंटोंपर लादकर पासके रेलवे
स्टेशनपर पहुंचायी जा रही है।

भारतीय रेलें कुछ साल पहले लाइन बनाने और मरम्मत करनेके लिये हर साल ४०,००० टन लकड़ीकी खपत करती थीं। आजकल आर्थिक .सङ्कटके कारण रेले बहुत कम बनती हैं तो भी आशा है कि जब यह आर्थिक संकट दूर हो जाय गा, तो फिरसे मांग बढ़ जायगी। अभी रेलवेके इञ्जिनियरिंग काम के लिये सागौनकी लकड़ियोंकी काफी मांग है। इसके अलावा घर बनानेके लिये भी सागौनकी लकड़ियोकी देशमे हमेशा मांग बनी रहती है, इसलिये सागौनका बाजार हमेशा बना रहता है।

जंगलमें लट्ठोको काटने और गिरानेका काम कुलियो और हाथियोंसे लिया जाता है। उनका काम जब खतम हो जाता है तो लट्ठोको पानीमें बहाकर कोचीन रियासतकी सीमा तक लाया जाता है जहांपर उन्हें जंगलके ट्रामवेपर लादकर रेलवे स्टेट शनतक पहुचाते हैं।

जंगलकी ट्रामवे (Tramway) कोचीन रियासत द्वारा आजसे ३१ वर्ष पहले स्थापित की गई थी। वह ५० मील लम्बी है, जो रियासतकी सीमासे लेकर 'कोचीन स्टेट रेलवे' के 'चालाकुदी' स्टेशन तक बिछी हुई है।

ट्रामवेकी लम्बाई भरमें पांच जगह बड़ी ही ढालू जमीन हैं, जहां ट्रामवे गाड़ीको ऊपर चढ़ने या नीचे उतरनेके लिये ब्रेकको काममें लाना पड़ता है। लाइन भरमें २५ स्टेशन हैं। ट्रामवेके तीन सेक्सनोंपर आठ इञ्जन काम करते हैं। उनमेंसे सात

इञ्जनोंमें छः-छः पहिये हैं। और जो ५० हौर्स पावरके हैं उनके ब्यालरोंका काम करनेका प्रेसर २५० पौंड प्रति वर्गइञ्च है। आठवां इञ्जन १०० हौर्स पावरका है जिसमें आठ पहिये लगे हैं। ५० हौर्स पावरवाले इञ्जनोंकी तौल १० टन और १०० हौर्स पावरवाले इञ्जनकी तौल १६ टन है।

ट्रामवे द्वारा ५१०० टन तक लट्ठे ढोये जाते हैं। ट्रामवेको बनानेमे करीब करीब २६,००,००० रुपया अर्थात् ५२००० रु० प्रति मील खर्च हुआ था। इसी खर्चमें जङ्गलकी सफाई, पुलबनाई आदि सभी खर्च आ जाते है। स्टेशनसे जङ्गल तक टेलीफोन भी लगा है। उसका भी खर्च इसीके भीतर है।

ट्रामवेकी समाप्ति 'चालाकुदी' तक जाकर ही है। चालाकुदी मद्राससे शोनपुर होकर ३११ मील दूर है। इर्नाकुलमसे जहांसे कोचीन जाया जाता है, चालाकुदी केवल २६ मील दूर है। इर्नाकुलममें एक नया बन्दर बनाया जा रहा है जहांपर किनारे-के स्टीमर आया-जाया करते हैं। इस तरहसे अनामली जङ्गलसे कराची, बम्बई और कलकत्ता तक आने-जानेका सुगम रास्ता ठीक हो गया है। बम्बई तक रास्ता साफ हो जानेसे अनामली-का ब्रिटेनसे भी सम्बन्ध हो जायगा जहांपर इसके मालकी बड़ी मांग होनेके कारण जहाज-के-जहाज माल भेजे जायंगे।

यह आशा की जाती है कि निकट भविष्यमें अनामलीके पेड़की लकड़ियां संसारके अन्य स्थानोंके सागौनकी लकड़ियोंसे प्रतियोगितामें बाजी मार ले जायंगी। बर्मा और अनामलीको

जङ्गलकी ट्रामवेकी ढालू लाइनें
और तारके रस्से ।

एक ही किस्मकी लकड़ियोके दामोंमे काफी फरक है। अनामलीकी लकड़ियोकी कीमत बर्माकी लकड़ियोके दामोसे ३७ प्रति शत कम है। क्वालिटी और दामका ख्याल करनेसे साफ मालूम होता है कि मालावारके सागौनकी लकड़ियोका प्रयोग करनेमें कम खर्च है। बर्मा और अनामलीकी लकड़ियोका भाव 'Indian Trade Journal' में २ री अप्रेल १६३१ को निकला था। बहुत संभव है कि उनके दरोंमें कुछ रद्दोबदल हुआ हो, उनके दामोंमे उतने प्रति शतका अन्तर न रह गया हो, किन्तु इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि मालावारकी लकड़ियोंका दाम बर्मांकी लकड़ियोंसे कम है। अगर दोनों जगहोंकी लकड़ियोका नाप एक ही हो।

'फोरेस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूट' के इस सिद्धान्तपर पहुचने पर भी कि मालावार और बर्माकी लकड़ियोमें बिलकुल समानता है, कुछ भी अन्तर नहीं है। न मालूम रेलवे कम्पनियां बर्माकी ही लकड़ियोंको क्यो पसन्द करती हैं। इतनी बात जरूर है कि वर्माकी लकड़ियां बर्गाकार या आयताकारमे बिकती हैं और मालावारके लट्ठे गोलाकार ही होते हैं। किन्तु इस बातका भी ख्याल रखना चाहिये कि गोल लट्ठोंको खरीदनेवालोंको जितनेका माल खरीदते है उससे २१ प्रतिशत ज्यादा लकड़ी नापमें मिलती है। क्योंकि गोल लट्ठोंकी नपाई वैज्ञानिक रीतिसे नहीं अन्दाजसे ही होती है।

पञ्जाबमें गलीचेका व्यवसाय

भारतवर्षमें यदि कोई ऐसी वस्तु है जिसका व्यवसाय भारतमें हो और जिसकी मांग अमेरिका और इङ्गलैंडमें है तो वह है गलीचा ! ब्रिटिश जनता देश या विदेशमें सब जगह अपने ही देशकी बनी हुई वस्तुओंका व्यवहार करती है। जिस वस्तुकी उपज उनके देशमे नही हो पाती उसे ही वे बाध्य होकर दूसरे देशोंसे लेकर काम चलाती है। आज हम दिल्लीमें वायसरायके कौंसिल चेंबरमें अमृतसरके गलीचोंको फर्सपर बिछा हुआ पाते हैं। इंगलैंड और अमेरिकाके राजमहलोंके बड़े-बड़े हालोंमें भी हम अमृतसरके ही गलीचेको स्थान पाते देखते हैं। अमृतसर-के गलीचे हमारे लिये गौरवकी वस्तु हैं और उनका इतिहास जानना आवश्यक है।

इस बातका पता लगाना कि गलीचेके व्यवसायका इस संसारमें कबसे आरम्भ हुआ, मुश्किल है। सर गार्डनर विल्कि-न्सनका कहना है कि पहले-पहल मिश्र देशके लोग धार्मिक कामोंके लिये गलीचेका प्रयोग करते थे। आज भी हम देखते हैं कि बहुतसे साधु और फकीर पूजा करनेके लिये बगलमें एक छोटा गलीचा या आसनी लिये फिरते हैं। प्लिनी (Pliny) का कहना है कि बेबलोनियावालोंने दरियोंपर पहले-पहल मनुष्योंके चित्र

और धामिक घटनाओके दृश्य अङ्कित करना शुरू किया। उनके बाद बागदादवालोने जो प्राचीन बेबीलोनसे १५ कोस दूर है उनसे इस कलाको सीख लिया और उसी कलाके आधारपर फारसमें गलीचेका प्रसिद्ध व्यवसाय प्रारम्भ हुआ जो शाह अब्बासके राज्यकाल (१५८२-१६२८) से लेकर आजतक चला आ रहा है। यूरोपके इटली और स्पेन ऐसे कुछ देशोने भी इस व्यवसायको हथियानेका प्रयत्न किया; किन्तु उस समय जिस जोरके साथ मुसलमान और मुसलमानोंकी सभ्यता पूर्व और पश्चिममे बढ़ रही थी, उसी जोरके साथ फारसके गलीचेका व्यवसाय भी बढ़ रहा था। अतः इटली और स्पेन प्रतियोगिताके कारण अपने प्रयत्नोमे असफल रहे। उसी समय मुसलमानी सभ्यताके साथ १४२३ ई० मे सबसे पहले कश्मीरमें गलीचेके व्यवसायका प्रारंभ हुआ। उस समय मध्य एशियासे ही बुननेके लिये जुलाहे बुलाये गये थे। आज-कल कश्मीरमें बहुत-सी जगहोपर गलीचेका कारबार होता है और वहांके लोग इङ्गलैंड और अमेरिकासे उसका व्यापार कर बहुत लाभ उठाते हैं। आज-कल वहांका यह व्यवसाय इतने जोरोंसे बढ़ रहा है कि आशा की जाती है कि कश्मीरका यह स्वदेशी व्यवसाय दुनियाके और किसी भी हिस्सेके इस व्यवसायसे थोड़े ही दिनोमे बाजी मार ले जायगा।

अकबर सम्राटके राज्यकालमे बहुत-सी शिल्प-कलाओंका प्रचार हुआ जिनमें मुख्य गलीचेका बुनना था। सम्राट स्वयं

इसकी उन्नतिके लिये प्रोत्साहन दिया करते थे। मुसलमानोंके शासन-कालसे पहले हिन्दुस्तानमे गलीचेके होनेका कोई इतिहास नहीं मिलता। कुछ विद्वानोंका कहना है कि मुल्तानमें जिस ढंगका गलीचा बुना जाता है, वह अनार्योंके समयसे ही बुना जाता है और मुसलमानोंके आनेके पहले भी हिन्दू उसे बुना करते थे, किन्तु अधिकांश लोग उसमें तातारी कलाका अभ्यास पाते हैं और उनकी दृष्टिमें तातारी शैलीका ही अनुकरण वे लोग करते हैं। सिन्धु और बलूचिस्तानमें तातारी जुलाहोंका एक बार जमघट था, अतः सम्भव है, बादके विद्वानोंकी राय सच है।

दक्षिण भारतमें जो गलीचे बनते हैं उत्तरके गलीचोंसे बिलकुल भिन्न हैं। डच आविष्कर्त्ता "जान हे इन वान टेन्सकोटन" (John Hay ghen von Tenchoten) का जो १५९६ ई० में भारत आया था—कहना है कि खम्भातमे अलकातिफ नामका जो गलीचा बुना जाता है वह फारसके गलीचेसे बिलकुल भिन्न है। वंगनाइस नामका गलीचा स्काटलैण्डके गलीचेकी तरह मालूम होता है। अनुमान किया जाता है कि बहुत पहलेसे भारतवर्षमें सूतकी दरियां बनती थीं। दरियोंके ऊपर घासकी तरह जो चीज जमाई जाती है वह बिलकुल भारतीय है। उसमे न तो फारसकी शैली है न तातारकी। आइन अकबरीमें एक जगहपर लिखा है कि सम्राटने गलीचेके व्यवसायको इतना प्रोत्साहन देकर बढ़ाया था कि हिन्दुस्तानी
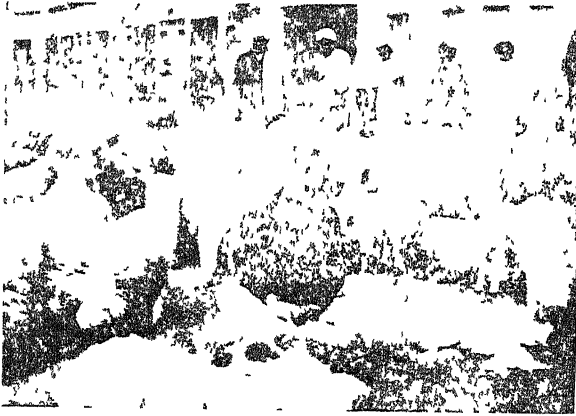
भेड़ोंके बाल कतरे जाते हैं।

ऊनकी धुनाई हो रही है।

गलीचोंके सामने फारस और तातारके गलीचोंको कोई पूछता ही नहीं था। उस समय आगरा, फतेहपुर और लाहौरमें सबसे अच्छे गलीचे बनते थे। शाहजहांके शासन-काल १६३४ मे वरशियलफुल कम्पनी आफ गर्डलर्सको एक गलीचा दिया गया था जो आजकल गर्डलर्स हाल लण्डनमे रखा है। कहा जाता है कि वह अकबर द्वारा स्थापित लाहौरको फैकृरीका बना है और फारसकी शैलीका अनुकरण है।

एक दूसरा उदाहरण महाराजा जयपुरके दरबारके गलीचे है जो सन् १६३९ और सन् १६६० में बने है । उनमेंसे बहुतोंमें 'लाहौर' नाम भी लिखा गया है। बीजापुरके भासर महलमें भी उस समयके गलीचोके कुछ टुकड़े रखे गये है। एक हस्तलिखित प्रतिसे ऐसा पता चलता है कि वे गलीचे वहां १६५७ में पहुंचे थे जो कश्मीरसे बनकर आये थे।

मुगलसत्ताकी अवनतिके साथ-साथ इस व्यवसायकी भी अवनति होती गयी। दो शताब्दियो तक तो गलीचा बुननेकी कलाका बिलकुल लोप-सा हो गया। दक्षिण भारतमें ही कुछ करघे चलते रहे, नहीं तो सब-के-सब बन्द हो गये। ईरानी शैली तो कुछ समयके लिये लुप्त-सी हो गयी। अव्यवस्थित रूपसे जब यह व्यवसाय दक्षिण भारतमे चलाया जा रहा था तब उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमे उत्तरी भारतको अपने भूले हुए सबकको फिरसे याद करनेकी सूझी। १८५१ ई० में एक प्रदर्शिनीके द्वारा फिरसे गलीचेके व्यवसायका नया जन्म हुआ। यूरोपका बाजार जो

इतने दिनोसे बन्द था फिर भारतके लिये खुल गया। भारतीय गलीचोकी वहासे बड़ी मांग आई। यह देखकर युरोपियनों और अमेरिकनोंने इस व्यवसायको अपने हाथमें लिया और आगरा, पञ्जाब तथा कश्मीरमे धड़ाधड़ फैक्टरियां खोल दीं।

अमृतसरमे जो एक बिलकुल नया केन्द्र है, बहुतसे करघे चालू हैं। वहापर सबसे पहले सन् १८८७ ई० में मेसर्स देवीसहाय चुम्बामलकी फैक्टरीकी स्थापना हुई। मांग अधिक होनेके कारण माल सस्तेमे तैयार होने लगा। अतः स्वाभाविक घटिया माल भी बनने लगा। हालहीमें एनीलाइन रङ्गोंका भी प्रयोग होने लगा है। पञ्जाब गवर्नमेण्टकी जेलोंमें गलीचा बुननेका काम बड़ी सफलताके साथ हो रहा है।

गलीचा बनानेके तरीके।

गलीचेका ऊपरी हिस्सा हाथसे बुने हुए सूत, ऊन या रेशमके टुकड़ोंसे ढका रहता है। ये टुकड़े सिलाईके द्वारा नीचेकी बुनी हुई दरीसे सिये रहते हैं। भारतीय गलीचोंके ऊपरी फर्श अधिकतर सूतके ही होते हैं। कभी-कभी ऊन और सूतके भी बने होते हैं, मगर केवल ऊनके तो बहुत ही कम और रेशमके बिल्कुल ही नहींके बराबर। रेशमके गलीचे बनानेमें खर्च भी अधिक होता है और समय भी ज्यादा लगता है। मेसर्स देवीसहाय चुम्बामलने प्रिन्स आफ वेल्सके लिये जब वे १९२१ में आये थे, एक रेशमका गलीचा तैयार किया था।

चरखे पर ऊनकी कताई हो रही है।
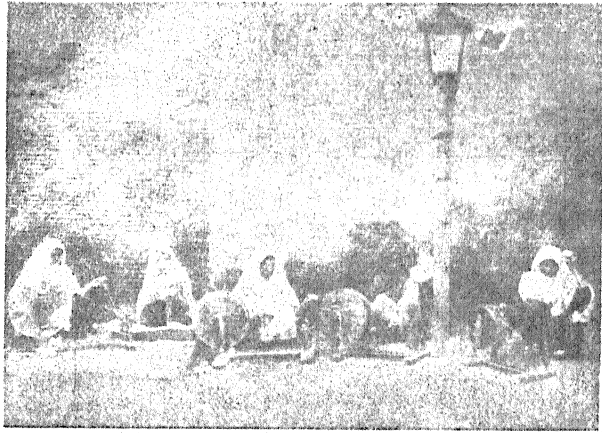
रङ्गाई हो रही ।

मुल्तानकी तरह कुछ केन्द्र ऐसे हैं, जहां सूतके गलीचे ही बनते है और उनकी खपत आस-पासहीके शहरोंमें होती है, किन्तु अमृतसरकी फैक्टरियोके लिये विदेशोंका—खासकर अमेरिका और इङ्गलैण्डका बाजार खुला है। दरी या गलोचा बुननेमे करीब-करीब सभी चीजें भारतीय ही होती है। कुछ फैक्टरियो तथा भारतीय मिलो द्वारा तैयार ऊनका प्रयोग होता है और कुछ फैक्टरियां अपने लिये दरया खान आदि केन्द्रोंसे ऊन मंगाती है। कुछ तो आस-पासहीके गांवों और शहरोंसे लेकर अपना काम चलाती हैं। फैक्टरियोंके पड़ोसमें ही भेड़ें पाली जाती है। अङ्गरेजोंकी जो ईस्ट इण्डिया कारपेट कम्पनी है वह भी अपने लिये ऊन इङ्गलेडसे नही मंगाकर अपने भारतीय मिल ओरियन्टल कारपेट मैनुफैक्चर्सका ही बना ऊन प्रयोग करती है। कुछ फैक्टरियोने अपने लिये पड़ोसके हाथसे बुने हुए ऊनसे ही काम चला लेनेका प्रबन्ध किया है। हजारो हिन्दुओं और मुसलमानोंकी औरतें चरखेपर ऊन और सूत कातती हैं और वे ही ऊन और सूत फैक्टरियोमें दरी बनानेके काममें आते हैं। सचमुच यह एक अनुकरणीय व्यवसाय है और इसीको आदर्श मानकर चलनेसे हजारों भारतीय अनाथ विधवाओं और गरीव औरतोंकी सहायता हो सकती है। इसी तरहके व्यवसायको पूर्ण स्वदेशी व्यवसाय कह सकते हैं। निस्सन्देह अमृतसर एक स्वदेशी व्यवसायके द्वारा बहुतसी अबलाओंकी अच्छी आर्थिक सहायता कर रहा है।

गलीचे बुननेके सभी तरीकोंको समझना जरा टेढ़ी खीर है। गलीचेके करघे ऊपरसे नीचेतक रहते हैं और उनकी लम्बाई, चौड़ाई गलीचेकी लम्बाई-चौड़ाईके अनुसार छोटी-बड़ी होती है। करघे दो बड़े-बड़े भारी काठके रोलरके होते हैं, जो दो ईंट या काठके खंभोंपर अड़े रहते हैं। नीचेवाला रोलर जिसके चारों ओर तैयार हुए गलीचेका हिस्सा लपेटा जाता है, फर्शके नीचे एक खोदे हुए गढ़ेमें अड़ा रहता है। दूसरा रोलर पांच फीटके लग-भग ऊंचाईके खम्भोंपर रुका रहता है। जिस सूतके गलीचे बनते हैं वे दोनों रोलरोंके बीच एक बांसके द्वारा ऐंठकर ताने हुए रहते हैं। तने हुए सूतके बीचमें एक नुकीली चीज द्वारा एक दूसरा सूत जिसे भरना कहते हैं इधर-से-उधर बुना जाता है। नुकीले हथियारको मुकरा कहते हैं। जब ताना और भरना हो जाता है तो उसके ऊपर बुने हुए सूत या रेशमके टुकड़ों द्वारा नकशाकशी की जाती है। अमृतसरमें यह काम ठीकेपर दे दिया जाता है। एक जुलाहेको एक या अधिक गलीचा ठीके-पर दे देते हैं जिसे दुकानदार कहते हैं। वहां हर एक करघेको दुकान कहते हैं। अब वह ठेकेदार छोटे-छोटे लड़कोंको उस कामको पूरा करनेके लिये लगाता है। इन जुलाहोंमें अधिकांश कश्मीरके मुसलमान हैं। दुकानदार करघेके ऊपर बैठ जाता है और अपने हाथमें एक चार्ट लेकर जो किसी विशेषज्ञ द्वारा तय्यार किया रहता है, उन लड़कोंको यह बतलाता है कि अमुक भरनाके बाद अमुक रंगका सूत दो या अमुक संख्याके भरना
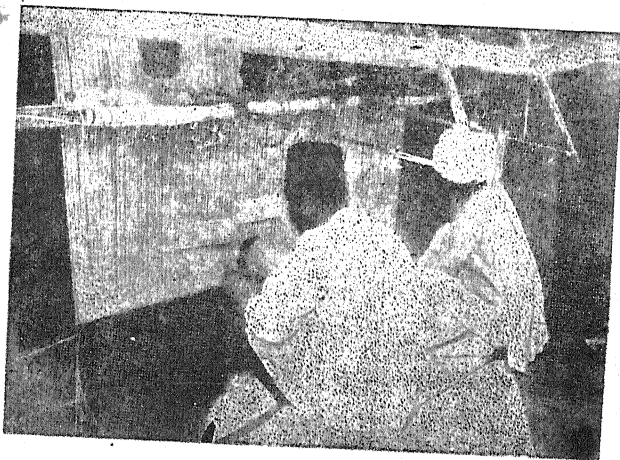
गलीचा बुना जा रहा है।
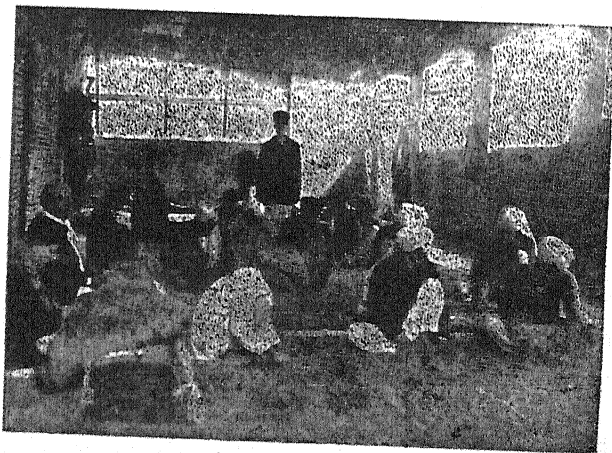
गलीचेपर ऊन जमाया जा रहा है।

भरो। जो लोग चार्ट या नकशेको तैयार करते हैं वे तालीमनवीस कहे जाते हैं और उस नकशेको तालीम कहते हैं। तालीमनवीस भी अधिकतर कश्मीरी मुसलमान ही होते हैं।

कुछ लोगोंने इण्डियन फैक्टरीज ऐक्टके अनुसार लड़कोंको कामसे बरी रखनेकी कोशिश की, किन्तु लड़कोंके पतले और मुलायम हाथ इस व्यवसायके लिये बहुत उपयुक्त हैं। अतः उनका उस फैक्टरीमे रहना अनिवार्य समझा गया है। गलीचेकी फैक्टरीमें जितने काम करनेवाले हैं सभी मुसलमान हैं। जुलाहोंको छोड़कर और सभी काम करनेवालोंकी मजदूरी निश्चित है। रङ्गरेज और तालीमनवीस ३० और ६० रुपयेके बीचमें महीना पाते हैं। जुलाहा अपने कामके अनुसार एक या दो रुपया रोज पाता है। काम करनेवाले सभी लोग पड़ोसके गांवके रहते हैं।

व्यापार

अमृतसरमे आज-कल तीन प्रसिद्ध फैक्टरियां हैं। उन सभी मे करघोंकी संख्या बहुत ज्यादा है। सबसे पुरानी फैक्टरी मेसर्स देवीसहाय चुम्बामलकी है। इसकी स्थापना लाला गागरमलने सन् १८८७ में की थी। दूसरी फैक्टरी खां बहादुर शेख आलम सदीक एण्ड को० की है। तीसरी ईस्ट इण्डिया कारपेट कम्पनी अङ्गरेजोंकी देखरेखमें है। इन तीनोंने निर्यातके द्वारा इस व्यवसायकी काफी उन्नति की है। तीनों फैक्टरियोंसे

अमेरिका, न्यूजीलेंड, दक्षिण अफ्रिका और यूरोपके अन्य देशोको माल जाता है। बहुत-सी प्रदर्शिनियो द्वारा इन्हें मेडल भी मिले है। लाखो रुपयेका माल वाहर जाता है तो भी मांग वढ़ रही है। वास्तवमें यह व्यवसाय शुद्ध स्वदेशी है। इसकी उन्नतिकी ओर देशके पूंजीपतियोंको ध्यान देना चाहिये।

जूटका इतिहास

जूटका इतिहास बड़ा ही रोचक है और यह एक ऐसी चीज है जिसका भारतमें अङ्गरेजी राज्यसे घनिष्ट सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय लोग जूटके विषयमें बहुत पहलेसे जानते थे, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दि तक सन, पाट, पट्टा, भांगा तथा पटुआ आदि नामोंसे पुकारे जानेके कारण उस समयके लोग यह निश्चय नही कर सके कि कौनसे पौधोंमे रेशा निकलता है।

यह सत्य है कि सन पाटसे यहाँके निवासी बहुत पहलेसे परिचित थे, किन्तु वर्तमान जूटके विषयमे उनको अङ्गरेजोने ही परिचय कराया। पहले जमानेमे रेशे और मोटे कपड़े को ही सन, पट्टा और भांगा कहा जाता था, क्योंकि यह किसीको भी अवगत नही था कि किससे रेशा निकलता है। उन्नीसवीं शताब्दिके आरम्भमें पाट शब्दने ख्याति पाई।

इम्पायर पीस गुड्स-को भारतमें भेजनेकी बढ़ती हुई। सुवि-धाओंसे जूटका काम बहुत कुछ मन्दा पड़ गया किन्तु अन्य अंशोंमे इसकी दिनोदिन उन्नति होती गई। इसलिये थोड़े ही दिनोंमें जूटकी मांग बहुत बढ़ गई और जूटका बाजार सबसे सुन्दर और कमाऊ हो गया।

ब्रिटिश मार्केण्टाइल मैरिनकी सहायतासे भारत, बर्मा, चीन,

अमेरिका, आस्ट्रेलिया और मिश्रकी उपजाऊ भूमिसे अनाजका व्यापार होने लगा। उसको इधर-उधर भेजनेके लिये बोरोंकी आवश्यकता हुई और जूटके व्यापारियोंसे हजारों बोरे खरीदे गये। बोरोके दाम बाजारमें बहुत मिलनेके कारण बङ्गालके किसानोंने बोरोका ही काम हाथमें ले लिया। धीरे-धीरे हाथका काम मशीनो द्वारा होनेके कारण धीमा पड़ गया। इस प्रकार जूट बाहर यूरोपमें भेजा जाने लगा, जहांसे उसके कपड़े और बोरे बनकर आने लगे।

सर्वप्रथम सन् १८२८ ई० में जूटकी ३,००० गाठें यूरोपको भेजी गईं। इसके बाद भारतमें मशीनो द्वारा जूटके कपड़े बनने लगे; किन्तु अभी तक वे यूरोपके बने हुए कपड़ोंकी टक्कर नही ले सकते थे। सन् १८५४ ई० में रिशरामपुरमें एक मिलकी स्थापना हुई जो आजकल विलिङ्गटन मिल्सके नामसे प्रसिद्ध है। इसके तीन वर्ष बाद बोर्नियो कम्पनी लिमिटेडने वड़नगर जूट मिल्सकी स्थापना की। इसके बाद १८६३-६४ मे गौरीपुर जूट मिल्स प्रकट हुई। इसी प्रकार धीरे-धीरे बंगालमे बहुत-सी मिले हो गयीं और सन् १८७९-८० मे ५५६,८००० बोरे भारतवर्षसे बाहर भेजे गये। इसके उपरान्त जूटकी खेतीके विषयमे प्रकाश डाला जाता है।

जूटकी खेती विशेषकर बंगालके उत्तरी और पूर्वी जिलोमे होती है। थोड़ा बहुत आसामके गोलपाड़ा जिलेमे भी उपजता है। इस प्रकार प्रायः १॥ लाख एकड़ जमीनमें जूट बोया जाता

है और एक एकड़की पैदावारमें १३६१ पौंड रेशा निकलता है। जूटकी पैदावारमेंसे आधेसे ज्यादा माल ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिकाको भेजा जाता है।

मिट्टी

जूट किसी भी प्रकारकी मिट्टीमें बोया जा सकता है। यह ज्यादातर गीली मिट्टीमें उतना अच्छा और फलनेवाला नही होता जितना कड़ी और उपजाऊ जमीनमें। सन ज्यादातर पहाड़ी जमीनमे होता है और धान तम्बाकू मटरके खेतोंमें यह विशेष फलता है। साधरण किस्मका पाट जो कि बहुतायतसे होता है विशेषकर खाली जमीनमें बोया जाता है और नमक मिली हुई मिट्टीमे यह बहुत फलता है। बालूवाली जमीन और नदीके टापुओंमे यह विशेष होता है।

जलवायु

गरम और नम जलवायुमें जहां ज्यादा पानी न बरसे, जूट विशेष सुन्दर उगता है। कम-से-कम जूटके मौसमके आरम्भमे जरा भी वर्षा नहीं होनी चाहिये। गरम ऋतुको छोड़कर ठंढे मौसम भर जूटके पौधे लगानेके योग्य नहीं होते।

जमीन तैयार करना

निचीली जमीन जहां बाढ़ आनेकी विशेष सम्भावना रहती है, ऊंची जमीनसे पहले जोती जाती है। जमीनमें जितनी ज्यादा

मिट्टी होती है, बोनेसे पहले वह जमीन उतनी ही ज्यादा जोतनी चाहिये। जमीन नवम्बर-दिसम्बर तक तैयार कर लेनी चाहिये। यदि अब तक न हो सकी हो तो फिर फरवरी और मार्चमें पहले नही जोतनी चाहिये। जमीन कम-से-कम चार और ज्यादा-से-ज्यादा छः बार जोती जाती है। मिट्टीके ढेले तोड़े जाते हैं और घास-पात जला दी जाती है।

बीज

इसके बीजोंको चुननेकी कोई जरूरत नहीं होती और न किसान लोग बीज खरीदते ही हैं और न बेचते हैं। खेतके एक कोनेमें थोड़े से पौधे बीजके लिये पकनेको छोड़ दिये जाते हैं और ये ही दूसरे वर्ष बोये जाते हैं। जमीनकी दशा और प्रकृतिके अनुसार बीज मार्चके मध्यसे लेकर जूनके अन्ततक बोया जाता है।

पौधोंका उगना पूर्णरूपसे बीज बोनेके समयपर निर्भर करता है। विशेषकर जूनके अन्तसे लेकर अक्टूबरके आरम्भतक जूट लगाया जाता है।

जब पौधे फूलने लगते हैं तब उनका मौसम आरम्भ होता है और फल लग जानेपर उनका मौसम बीत जाता है। बिना फूले हुए पौधोका रेशा फले हुए पौधोंके रेशोंसे कमजोर होता है। इसमे सन्देह नहीं कि फूले हुए पौधोंका रेशा यद्यपि मजबूत होता है किन्तु देखनेमें अच्छा होता है और इसको साफ करनेकी आवश्यकता होती है।

भारतकी उपज

जूटकी कटनी हो रही है।

जूटकी धुलाई हो रही है।

एक एकड़ जमीनमे रेशेवाला पौधा १५ मन उगता है किन्तु बढ़िया जूट एक एकड़ जमीनमें ज्यादा-से-ज्यादा ३० और ३६ मनतक होता है। बल्कि कुछ जिलोमे तो केवल तीन, छै, नव मनतक होता है और यह भी मौसमपर निर्भर करता है। मद्रास प्रान्तके सदापेटमे जूटकी उपज एक एकड जमीनमे लगानेपर ५६६ पौण्ड और जड़ सहित पौधे उखाड़ लेनेपर ७०३ पौंड ही होती है जो बङ्गालकी पैदावारसे आधी है। १९२७-२८ मे बगाल में एक एकड़ जमीनकी जूटकी उपज १३९१ पौंड थी जिसमें रङ्गपुरमें तो १४९१ पौंडतक जूट हुआ था। चटगांवकी पहाड़ियोमे १६२५ पौंड जूट उगता है। इसी प्रकार फरीदपुरमें १४८०, हबड़ामे १४३०, चौबीस परगनामे ९८९, नदियामे ९६३ और मुर्शिदाबादमे ९०९ पौड जूट एक एकड जमीनमें पैदा होता है।

साफ करना

वर्तमान कालमें किसान लोग जूटके पौधेमेंसे रेशा अलग करनेका काम पानीके कुण्डोंमें ही करते हैं। कुछ जिलोंमें जूटके बण्डल बांधकर रख दिये जाते हैं जिससे पत्तियां सड़ जायं ताकि धागा निकालनेमें सुविधा हो और कुछ जिलोंमें जूटके गट्ठे पानीमें डाल दिये जाते हैं। इसके बाद एक लकड़ीसे कूटकर धागा अलग कर दिया जाता है। कुछ जिलोंमे जूट नदी मे साफ किया जाता है किन्तु ज्यादातर तालाब या सड़कके किनारेके कुण्डोंमें ही यह काम किया जाता है। यह काम पानी

के प्रकृत वातावरण और धागोंको देखकर ही होता है। पानीमें पौधोंको तैयार होनेके लिये दोसे लेकर पचीस दिन तक लगते है। आदमी नित्य जाकर पौधोंको देखता रहता है और नाखूनसे धागेको भी जांचता रहता है।

यदि नाखूनसे धागा निकल आये तो पानीसे जूटको बाहर निकाल लिया जाता है। यदि जूट पानीमें अधिक दिन रह गया तो वह सड़ जाता है और फिर किसी कामका नहीं रह जाता। डुबोये रहनेके लिये ऊपर कीचड़ पोत दिया जाता है। तैयार हो जानेपर किसान कमर तक पानीमें जाता है और गट्ठे को उठाकर उसमेसे छिलकोंको बडी सावधानीसे निकालता है ताकि कोई पौधा बीचमेंसे टूटने न पावे।

इस प्रकार आधे साफ किये हुए पौधोंको लेकर वह एक सिरेसे उनको अपने हाथमें पकड लेता है और बाकी हिस्सा पानीमे डालकर इधर-उधर चलाता रहता है। इस प्रकार इसका सारा मैल निकल जाता है और इसके बाद उसको धीरेसे पानी-की सतहके ऊपर डालता है। उसमे जो काले दाग दिखलाई देते है उन्हे हाथसे अलग करता है। इसके बाद उसको हाथमे पकड़कर पानी निचोड़ दिया जाता है और सूखनेके लिये धूपमे डाल दिया जाता है।

हानि

जूटको भी अन्य 'व्यावसायिक वस्तुओके पौधोंकी तरह

जूटके लच्छे ।

नुकसान पहुचनेका भय रहता है। बीज बोनेके बाद तुरन्त वर्षा होनेसे इसको बहुत नुकसान पहुंचता है या जब पौधे छोटे-छोटे होते हैं। किन्तु जब पौधोमें कलियां आ जाती हैं तो बाढ़से भी इसे नुकसान नहीं होता। जूटके पौधोंको उजाड़नेवाले दो कीड़े भी होते हैं जिनको चिट्ठापोका और शुआपोका कहते है। चिट्ठापोका फरीदपुर जिलेमें बहुत पाया जाता है और यह गरम मौसममें होता है। शुआपोका विशेषकर वर्षाऋतुमें। इन कीड़ोंके खा लेनेसे जूटका पौधा बहुत फैला हुआ हो जाता है और इसका धागा भी बिलकुल छिटका हुआ निकलता है। मिट्टी तेलका छिटकाव इन कीड़ोको दूर करनेके लिये रामवाण है।

जूटसे क्या-क्या बनता है ?

जूटसे भारतमें किसानोके हाथसे जो-जो चीजें बनाई जाती हैं उनमें बोरे, दरियां, कम्बल और देशी नावोंकी पालें मुख्य हैं। उत्तरी और पूर्वी बङ्गालमें जूटसे कागज भी बनाया जाता है। भारतीय जुलाहे धागोंको लाल, काले और पीले रङ्गोंमें रङ्ग लेते है।

भारतके यूरोपियन कारखानोंमें जूटका :विशेषकर हैसियन कपड़ा ही बनाया जाता है। इसका रद्दी माल जो बच जाता है उसको कागजकी मिलें खरीद लेती हैं। भद्दे और मजबूत रेशोंके रस्से बनाये जाते हैं।

यूरोपके देशोंमें तथा अमेरिकामें जूटसे सुन्दर-सुन्दर पर्दे

कम्बल आदि बनते है और उसके मोटे रेशोंसे हैसियन कपड़े, बोरे, त्रिपाल आदि बनते हैं। जूटको रेशममें मिलाकर नकली रेशमीन कपड़े भी बनते हैं। जूटका ही पाट बनानेके लिये धागोंको और मुलायम बनाना पड़ता है और इसके लिये २० टन पानी और २॥ टन तेलमें १०० टन जूटका पाट बन सकता है। इस प्रकार करनेसे धागे बहुत ही मुलायम और सुन्दर हो जाते हैं जिनसे बहुत-सी कीमती चीजें बन सकती हैं जो पहले आदमियोंको मालूम नही था।

छांटना और गांठ बांधना

गांठमे बांधा हुआ जूट बंगालसे यूरोप और अमेरिकाको भेजा जाता है। गांठे ४०० पौंडकी होती हैं और १० क्यूबिक फुटकी मापसे बनती है। बंध चुकनेपर उनके ऊपर चिह्न लगाया रहता है।

खुला हुआ जूट कलकत्तेके बाजारमें भेजा जाता है और मिलें इसको कच्ची गाठके अन्दाजसे खरीदती हैं। एक कच्ची गांठमे ३० से ४० सेर तक जूट होता है। कच्ची गांठका वजन प्रायः ३॥ मनका होता है।

करांचीका तैल-व्यवसाय

करांची सिन्ध नदीके मुहानेपर बसा हुआ अरब सागरपर एक बन्दरगाह है। यह स्थान सिन्धप्रांतमें पड़ता है। साधारणतया लोग यह समझते हैं कि एक ऊसर, रेगिस्तानी प्रान्तके बन्दरगाहमे रोजगार ही क्या होता होगा? किन्तु अच्छी तरह वहांकी हालत देखनेसे यह जानकर सबको आश्चर्य होगा कि व्यवसायकी दृष्टिसे वह स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। न्यूयार्क (अमेरिका) की प्रसिद्ध 'स्टैंडर्ड आयल कम्पनी' और उतनी ही मशहूर 'दी बर्मा-शेल' कम्पनीने उस स्थानको तेलके रोजगारका एक बहुत बड़ा केन्द्र बना दिया है। यहांसे बलूचिस्तान, उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश, पंजाब तथा संयुक्तप्रान्तके कुछ हिस्सेतक तेल भेजा जाता है। 'बर्माशेल' कम्पनी तो पेट्रोल बेचनेवाली एकमात्र संस्था है और इस कारण हम कह सकते है कि इन प्रान्तोंमें एक भी मोटर-गाडी, हवाई जहाज, मोटर बस, लारी तथा अन्य प्रकारकी पेट्रोलसे चलनेवाली गाड़ी ऐसी नही होगी जो अपनेको इस कम्पनीका ऋणी न समझती हो। इन दोनो कम्पनियोने अपनी-अपनी शाखाएं करांचीमें स्थापित की हैं और ऐसी-ऐसी मशीनें बैठायी हैं जिनसे मजूरीकी बचत होती है और रोजगारमें भी काफी सहूलियत होती है। इससे

आज वे इस अवस्थाको पहुंच गयी हैं कि उनका माल नफेके साथ धड़ाधड़ बिक रहा है और उनकी ही बदौलत देशके भीतरी भागमें भी एक गरीब-से-गरीब आदमीकी झोंपड़ीमें प्रकाश हो रहा है। बलूचिस्तान, सीमान्त-प्रदेश और अफगानिस्तानके पहाड़ी गांवोंमें ये कम्पनियां घर-घर अपना तेल पहुंचाती हैं।

अब यहां यह देखना है कि आखिर तेलके पीपे और कनस्तर कैसे बनते हैं और उनमें कैसे तेल भरा जाता है। इस सम्बन्धमें वास्तवमें यही विशेष रूपसे जाननेकी बात है। बहुत लोगोंका ऐसा ख्याल है कि ये खाली टिन और पीपे बाहरसे मंगाये जाते हैं; किन्तु ऐसी बात नहीं है।

अब हम यहां संक्षेपमें पाठकोंको जानकारीके लिये यह बतलानेकी चेष्टा करेंगे कि ये कम्पनियां अपना काम किस तरह करती हैं।

समय-समयपर करांचीमें तेलसे भरे हुए जहाज आते हैं। वहांपर समुद्रमें तेल उतारनेके लिये एक अलग ही 'पियर' (मजबूत लोहे आदिसे बनी मचान) बना हुआ है, जिसके पास आकर जहाज लग जाते हैं वह स्थान हर तरहसे अग्निके भयसे सुरक्षित रखा गया है। एक-एक जहाजमें एक बार लगभग ६।१० हजार टन या २८ लाख मन तेल भर कर आता है। (एक टन लगभग २७-२८ मन का होता है।)

जब जहाज किनारे आकर लग जाते हैं तब एक झुकनेवाला
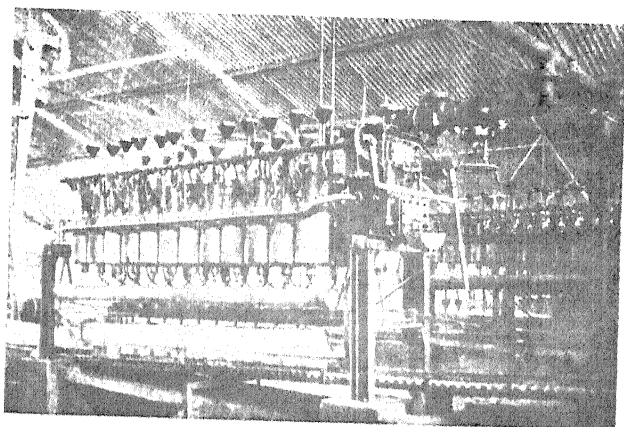
टीनोंमें तेल भरा जा रहा है।

पाइप एक ओर जहाजमें और दूसरी ओर लोहेके पाइपमें जोड़ दिया जाता है। ये लोहेके पाइप समुद्रके किनारेसे लेकर तेलकी टङ्कीतक बने हुए हैं। इनका व्यास लगभग ८ इञ्चका होता है। टङ्कीमें पम्प किया जाता है। अब जहाजसे तेल इससे घंटेमें १८० टन या ५० हजार ४ सौ गेलन टङ्कीमे जाकर गिरता है। इस तरह लगातार पम्प किया जाता है और ५५ घण्टोंमें पूरे जहाजका ६ हजार टन तेल टङ्कियोंमें पहुंच जाता है।

स्टैण्डर्ड आयल कम्पनीकी ५ बड़ी-बड़ी टंकियां हैं और कीमारीमें दो 'सेटलिङ्ग' टंकियां हैं। बड़ी-बड़ी टंकियोंका व्यास प्रायः ६३ फीट और ऊंचाई ३५ फीट है। एक-एक टंकीमें १४ लाख ८५ हजार गैलन तेल आता है। प्रत्येक "सेटलिङ्ग" टंकीमें, जिसमें सीधे जहाजसे तेल नहीं आता, लगभग ५८ हजार ७ सौ ३६ गैलन तेल आता है। इन टंकियोंका इस्तेमाल यह है कि बिक्रीके लिये पीपों या टिनोंमें तेल भरनेके पहले बड़ी टंकियोंमेंसे तेल पम्प करके इनमें भर दिया जाता है और इस तरह कुछ दिनोंतक तेल पड़ा रहता है। इससे तेलमें अगर कोई चीज होती है तो वह नीचे बैठ जाती है और ऊपरका तेल साफ हो जाता है। फिर ऊपरसे साफ तेल लेकर पीपोंमें या कनस्तरोंमे भर लेते हैं और वही तेल बाजारमें बिक्रीके लिये भेजा जाता है।

अब यहां यह देखना है कि आखिर तेलके पीपे और कनस्तर कैसे बनते हैं और उनमें कैसे तेल भरा जाता है। इस सम्बन्धमें वास्तवमें यही विशेष रूपसे जाननेकी बात है। बहुत लोगोंका

ऐसा ख्याल है कि ये खाली टिन और पीपे बाहरसे मंगाये जाते है, किन्तु ऐसा बात नही है।

इस कामके लिये इन कम्पनियोने अपना-अपना एक कारखाना ही खोल रखा है जिसमें कई बड़ी-बड़ी मशीनें लगी हुई है और बहुतसे लोग काम कर रहे है। इन मशीनोंके द्वारा थोड़े खर्चेमे ही आनन-फाननमें कनस्तर तैयार हो जाते है। जब तेलका बाजार चलता है तो कभी-कभी तेरह-तेरह हजार कनस्तरोंकी रोज मांग हो जाती है। अगर ये मशीनें न होतीं तो इतना काम करना और समयपर तेल सर्वत्र पहुचाना इन कम्पनियोंके लिये बिलकुल असम्भव ही हो जाता। कठिनाई होनेका कारण यह है कि कनस्तर पहलेसे बनाकर रखे नही जा सकते, क्योंकि बहुत जल्द उनमे मुर्चा लग जाता है और इस तरह वे बेकाम हो जाते है। मुश्किलसे कुछ दिनोंकी आवश्यकताके लिये ही कनस्तर बनाकर रखे जा सकते हैं या रखे जाते हैं।

कनस्तर बनानेके लिये टिनकी चादरें अमेरिकासे आती हैं। ये चादरें बड़ी सावधानीसे टिनके अन्दर बन्द बक्सोंमें आती है, जिसमे मुर्चा लगनेका डर न रहे। इन बक्सोंको तभी खोला जाता है जब इनकी आवश्यकता होती हैं।

सबसे पहले इन बक्सोंको खोलकर 'ट्रिमर' नामक यन्त्रके पास ले जाते हैं और एक कुली एक-एक चादरको मशीनमें धराता जाता है। उस यन्त्रमें चादरकी लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई उतनी बन जाती है जितनेकी आवश्यकता होती हैं। केवल
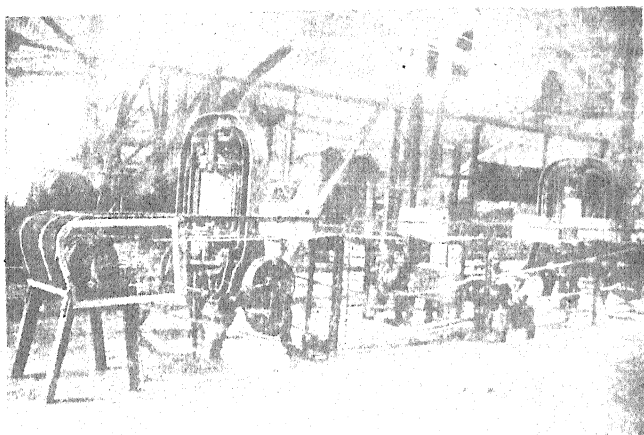
मशीनमें तेलके टीन मोड़े जा रहे हैं।
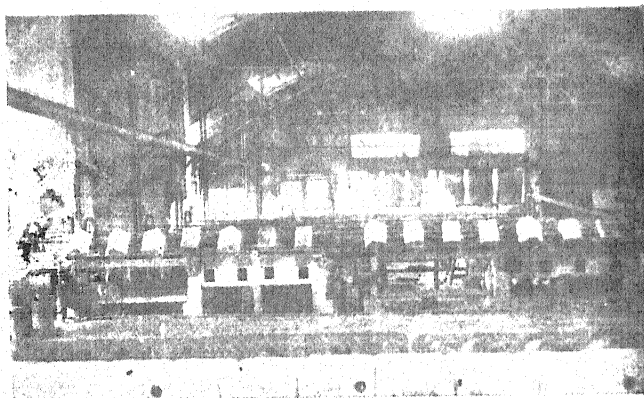
टीनोंके दोनों किनारोंको जोड़ा जा रहा है।

ऊंचाई ज्यों-की-त्यों रहती है। इस यन्त्रसे निकलकर चादरें आप-से-आप एक टेबुलपर गिरती जाती हैं और वहांसे उठाकर 'हेमिङ्ग' मशीनपर ले जाकर पुनः उसी तरह चढ़ाई जाती हैं। यहां-पर अब चादरोंकी ऊंचाई एक-एक कनस्तरके योग्य हो जाती है और नीचे और ऊपर इस तरह मुड जाती है जिससे कनस्तरके ऊपर और नीचेके भागके टिन उसमे बेठाये जा सकें।

इसके बाद फिर एक तीसरी मशीनपर उन्हे ले जाते हैं। यहांपर ये चादरें कनस्तरके रूपमें मुड़ जाती हैं और दोनों किनारोंको जोड़नेके लिये हुक बन जाते हैं। कनस्तर दो अलग-अलग टिनके टुकड़ोंको जोड़कर बनते हैं, इसीलिये हुक बनाने-की जरूरत पड़ती है। इसी मशीनपर एक तरहसे कनस्तरका पूरा रूप तैयार हो जाता है। केवल ऊपर और नीचेका हिस्सा जोड़नेको बाकी रह जाता है।

ऊपर और नीचेके हिस्सेके लिये अलग ही एक दूसरे प्रकार-के टिनके टुकड़े अमेरिकासे आते हैं। इन टुकड़ोंको पहले एक मशीनपर चढ़ाते हैं जहां ये कनस्तरके मापके अनुसार कट जाते हैं। फिर कनस्तरपर चढ़ानेके पहले ही ऊपरके हिस्सेमे पक-ड़नेके लिये तारकी कड़ी लगा दी जाती है।

तारकी कड़ी भी बड़े विलक्षण ढंगसे बनती है। इसके लिये एक अलग ही मशीन होती है, जिसमें बहुत-सा लपेटा हुआ तार एक साथ ले जाकर रख देते हैं और वह सारा तार आप-से-आप धूकई रोलरोंपर मता-घामता, कटता-छटता हुआ बात-की-बातमें

कड़ीके रूपमें दूसरी ओर गिरता जाता है। अगर कहीं हाथसे यह काम कराया जाता तो इसमें बहुत अधिक काम करना पड़ता और फिर भी इतनी जल्दी और इतना अधिक काम न हो पाता।

कड़ी लग जानेके बाद फिर कनस्तर एक अलग मशीनपर रखे जाते हैं जहां उनमें ऊपर और नीचेका भाग बैठा दिया जाता है। फिर उसपरसे उठाकर अलग एक मशीनपर ले जाते हैं जहां उनके तमाम जोड़ मजबूतीसे रांगेसे जोड़ दिये जाते हैं। वहां भी रांगा आप-से-आप कनस्तरोंमें लगता जाता है। हाथ-से काम करनेकी कोई जरूरत नहीं पड़ती।

इस तरहसे हजारों पीपे या कनस्तर कुछ सेकंडोंमें तैयार हो जाते हैं और तेल भरनेवाले कमरेमें भेज दिये जाते हैं। बहुतसे कनस्तर एक साथ ही मशीन द्वारा तेल भरनेके लिये पहुंचा दिये जाते हैं।

कनस्तरोंमें तेल भी मशीन द्वारा ही भरा जाता है। एक लाइनमें रखकर एक साथ बारह पीपे भरे जाते हैं। तेल भरने-वाली मशीनको 'एमेरि स्केल सिस्टम' कहते हैं। मशीनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसमेंसे तेल भरते समय एक बूंद भी तेल कभी जमीनपर नहीं गिरता।

भरे हुए कनस्तर फिर मशीन द्वारा ही गोदाममें पहुंचा दिये जाते हैं और वहींसे जहां-जहांकी मांग होती है, भेज दिये जाते हैं।

काफीकी खेती

काफी पीनेकी प्रथाके विषयमें बहुत-सी दन्तकथायें कही जाती हैं। उनमेंसे एक मशहूर दन्तकथा यह है कि एबिसिनियाकी पहाड़ियोंमें फकीरोंकी एक टोली एक दिन अपनी भेंड़े चराते समय तंग आ गई। उनको बकरियां और भेंड़े उस दिन इतनी उत्तेजित और चञ्चल हो गईं कि लाख कोशिश करनेपर भी वे आराम करनेके लिये अपने घरमें नहीं गईं। फकीर लोग कई दिनतक खुदाकी सिजदा करते रहे, बहुतसे मन्त्र पढ़े, तोभी बकरियां वशमें नहीं हुईं। आखिरकार एक दिन प्रधान फकीर उन सभी जानवरोंको चरानेके लिये दूर पहाड़में गये। वहांपर वे यह देखते रहे कि बकरियां कौन-कौन-सी घास खाती हैं। अन्तमें उन्होंने देखा कि सभी बकरियां और भेंड़ें एक किस्मके पौधेकी पत्तियोंको खाकर मस्त हो गईं। उन्हें नीन्द आने लगी। प्रधान फकीरने स्वयं भी उस पौधेकी कुछ पत्तियां चबाईं तब उन्हें मालूम हुआ कि वे उसे चबानेपर रातमें बहुत देरतक जगे रह सकते हैं। धार्मिक आज्ञाके अनुसार कि फकीरोंको कम सोना चाहिये। वे रोज उक्त पौधेकी पत्तियां चबाने लगे और इस तरहसे काफीका आविष्कार हुआ।

शुरू-शुरूमें लोग काफीकी पत्तियोंको चटनी बनाकर व्यवहारमें

लाते थे। क्रुसेडकी लड़ाईमें जानेवाले सैनिक अपने शरीरमें स्फूर्ति बनाये रखनेके लिये काफीकी चटनी खाया करते थे।

चायकी तरह उबालकर काफी पीनेका प्रारम्भ पन्द्रहवीं शताब्दीके मध्यसे हुआ है। पन्द्रहवीं शताब्दीमें पहले-पहल अदनमें एक पेय पदार्थकी दृष्टिसे काफीकी खेती शुरू की गई। कुछ ही दिनोंमें काफीकी खेती मक्का और मदीनामें और सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें कैरो तक फैल गई। इस तरह अबिसिनिया-से काफीका बीज सबसे पहले अरबमें लाया गया। उस समय यूरोपमें जितनी खपत काफीकी होती थी, वह सब अरब हीसे बाहर भेजी जाती थी। अरबके बाद पश्चिमी द्वीप समूह और जावामें इसकी खेती होने लगी। आजकल सबसे अधिक काफी-की खेती ब्राजिलमें होती है। दुनियांके तीन चौथाई हिस्सेको ब्राजील ही काफी देता है। आजकल काफीका बाजार ब्राजीलके ही हाथमें है।

कहा जाता है कि आजसे दो शताब्दी पूर्व बाबा बूदन नाम-का कोई मुसलमान हिन्दुस्तानसे हज करनेके लिये मक्का गया था। उसने लौटते समय अपने साथ काफीके सात बीज लाये और मैसूरकी एक पहाड़ीपर उन्हें बो दिया। मैसूरकी वह पहाड़ी आज उसीके नामसे बूदनकी पहाड़ी कही जाती है। उसके बोनेसे सौ वर्ष बाद तक कहीं भी इस बातका पता नहीं चलता कि अमुक जगहपर काफीकी सुचारु रूपसे खेती होती थी। तो भी इस बातका पता चलता है कि काफीके जंगली

भारतकी उपज

मजूर स्त्रियां काफी चुन रही हैं।
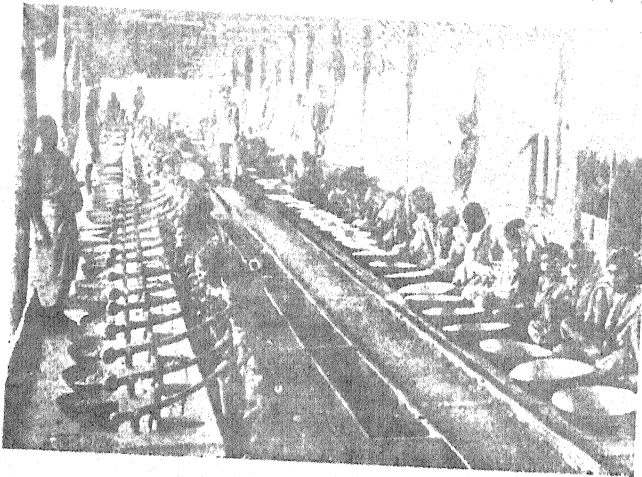
मालाबारकी स्त्रियां काफीकी गुठलियां उबाल रही हैं।

बीजोंको पहाड़ी जातियां इकट्ठा कर मैसूर और ट्रावनकोरके बीचके प्रदेशमें बेचती थीं। यह उस समय दक्षिण प्रान्तका एक मुख्य व्यवसाय था। काफीकी ठीक तौरसे खेती सन् १८२३ से होने लगी। उस साल कलकत्तेके नजदीक ग्लोस्टर किला-को काफी बोनेका अधिकार-पत्र दिया गया। कुछ दिनोंके बाद सन् १८३० के आसपास तीन अंगरेजोंने मिलकर दक्षिण भारत की विभिन्न पहाड़ियोंमें काफी रोपना शुरू कर दिया। तबसे लेकर आज तक दक्षिण भारत काफीका केन्द्र होता आया है।

दक्षिण भारतमें काफीकी खेती पश्चिमी घाटके ढालपर होती है। काफीकी खेतीका अधिकतर क्षेत्रफल मैसूर रियासत, कुर्ग स्टेट और नीलगिरि पहाड़के बीचमें है। कुछ दिनोंके बाद धीरे-धीरे काफीकी खेती सलेम जिलेकी शिवराम पहाड़ीपर मदुरा जिलेके पइनी और सिरुमलो पहाड़ीपर होने लगी।

नीलगिरिकी पहाड़ियोंपर काफीकी खेतीका प्रबन्ध पहले पहल १८४६ ई० में किया गया। तबसे यह व्यवसाय बड़े जोरों-से बढ़ने लगा। किन्तु ब्राजीलकी नयी काफीने भारतवर्षकी काफीके निर्यातको बहुत धक्का पहुंचाया। १८९६ से लेकर १९१६ ई० तक काफीकी खेतीका क्षेत्रफल दिन-पर-दिन घटता गया। १९१६ के बादसे काफीकी फिरसे उन्नति भारतमें होने लगी है। हालमें १३१६५५ एकड़ जमीनमें काफीकी खेती बोई जाने लगी है। काफीकी खेती अधिकतर दक्षिण भारत और मैसूरहीमें होती है। आजकल ऐसा जान पड़ता है कि भारतवर्षमें

काफीकी खेतीको भी कम करना पड़ेगा। भारतकी सभी उपजोंमें इधर कमी हो रही है। कुछ वर्ष पहले भारतवर्षसे काफीका निर्यात ४५०००० बोरोंतक पहुंच गयी थी। आजकल-का औसत ५०००० बोरा प्रति वर्ष है। औसत उपज १००००० बोरे सालकी होती है। जितनी काफी बाहर भेजी जाती है वह सब-की-सब फ्रांस और ग्रेटब्रिटेनको भेजी जाती है।

काफीकी करीब-करीब ८० किस्में कही जाती हैं। इन किस्मोंमें अधिकतर दो ही किस्मकी काफीकी खेती होती है, एक तो अरेबियन काफी, दूसरी लाइबेरियन काफी। आजकल कुछ दिनोंसे एक तीसरे किस्मकी मैरेगोपाइप काफीकी भी खेती होने लगी है। इस तीसरी किस्मकी खेती २०, २२ वर्ष पहले शुरू की गई थी। किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली, क्योंकि थोड़े दिनोंके बाद इसके पौधेमें फल लगना बन्द हो जाता था।

काफी मुख्यतः गर्म-प्रधान देशकी उपज है। इसकी खेती ऐसे स्थानपर बहुत अच्छी होती है, जहांकी आबहवा नम और गर्म होती है और जमीन उपजाऊ तथा खूब सींची हुई रहती है। गर्म-प्रधान देशकी उपज होते हुए भी काफीकी खेती ऊंचे स्थानपर होती है। चायकी तरह इसके लिये भी ढालू जमीन का होना अनिवार्य है। भारतवर्षमें काफीकी सबसे अच्छी उपज २००० और ३००० फीटके बीचकी ऊंचाईपर होती है। लाइबेरियन काफीकी उपज अरेबियन काफीकी अपेक्षा नीचेकी

भारतकी उपज

काफी साफ किया जा रहा है।

जमीनपर भी अधिक होती है। बहुत ही ठंढी और सूखी हुई बहुत ही गर्म हवा दोनों काफीके लिये बड़ी हानिकारक होती है।

काफीका पौधा तैयार करनेके लिये पहले उसके बीजको क्यारियोमे बो देते हैं और धूपसे बचानेके लिये ऊपरसे ढक देते है। जब अंकुर निकलनेके बाद पौधे एक या दो फाटके हो जाते हैं तब उन्हें सर्वदाके लिये दूसरी खेतीमें रोप देते हैं। रोपाई अक्सर बरसातके दिनोमें होती है। रोपाई खतम हो जानेपर पौधोंको फिर बांसकी पत्ती या अन्य किसी घाससे थोड़ दिनोंके लिये ढॅक देते हैं। दो पौधोंके बीचकी दूरी १० फीटसे १५ फीटतक रखी जाती है। काफीके खेतमें दूसरे किस्मके घासपातको नही जमने देना चाहिये।

काफीके पौधेमें तीसरे साल फूल लगते हैं और चौथे या पांचवें साल उसमें फल लगते हैं। सातवे या आठवें वर्षमें पेड़ फलोसे लद जाता है। हिन्दुस्तानमे अप्रैल महीनेमें काफीके पौधे-में फुल लगता है। उस समयका दृश्य देखने लायक होता है। दिसम्बर महीनेमें फल तोड़नेके काबिल हो जाते हैं। पक जानेपर काफीके फल बहुत ही लाल हो जाते हैं। प्रत्येक फलमें दो गुठ-लियां या बीज होते हैं। गुठलियों और छिलकेके बीचमें बेरकी किस्मका गूदा होता है।

काफीके फल हाथों द्वारा चुने जाते हैं और तब टोकरियोंमें भरकर एक जगह इकट्ठा किये जाते हैं। इकट्ठा कर लेनेपर उन्हे एक मशीनमें दबाते हैं ताकि बीज गूदेसे अलग हो जाय, तब

बीज और गूदेको पानीमें खौलाते हैं। ऐसा करनेसे बीज नीचे बैठ जाते हैं और छिलका और गूदा ऊपर रह जाता है, जो उबाल आनेपर नीचे गिर पडता है। इसके बाद बीजको अच्छी तरह धोकर बाहर खूब सुखाते हैं और तब बोरोंमें भरकर बाहर चालान करते है।

काफीका बीज अब भी एक पतली चादरसे ढका रहता है। उसे छुड़ानेके लिये एक दूसरी ही मशीन होती है। जब बीज बिलकुल साफ हो जाता है तब प्रयोगमें लाने योग्य होता है।

दक्षिण भारतकी काफीकी उपज मङ्गलोर बन्दरसे बाहर भेजी जाती है। काफीके केन्द्रसे मंगलोर ही सबसे नजदीक बंदर है। काफीके बीज जब सुखा दिये जाते हैं तब एजेण्टोंके पास जहाजमें भरनेके लिये भेज दिये जाते हैं। बोझ ढोनेका काम उस समय किसानोंकी गाड़ियां करती हैं। जिन दिनोंमें काफी बन्दर-गाहमें भेजी जाती है उन दिनों किसानोंको अपने खेतोंमें कोई काम नहीं करना पड़ता। भिन्न-भिन्न जगहोंकी काफी अलग-अलग रखी जाती है। सूखे हुए फर्सपर जहां छाया रहती है वहां बोरोंको खाली कर देते हैं। इसके बाद काफीको साफ करनेके लिये बहुत-सी स्त्रियां और बच्चे काममें लगाये जाते है। एक मिस्त्री उनकी देखभाल करता है। इसके बाद बीजोंको झरनेमें रखकर झारते हैं ताकि बराबर साइजके बीज अलग-अलग हो जायं। पीछे काफीको बक्समें बन्द कर देते है। बीजको बहुत देरतक नहीं सूखने देते; क्योंकि ऐसा करनेसे काफीका गुण

जाता रहता है। काफीको बक्समें बन्द करते समय इस बातका ध्यान रखा जाता है कि भीतरकी लकड़ी काफीके रङ्गको न बदल दे। खराब क्वालिटीका काफीको बोरोमे बन्द करके बाहर भेजते हैं लेकिन ऐसा करनेसे काफी कभी-कभी बिलकुल खराब हो जाती है। काफीका अधिकाश भाग यूरोपको भेजा जाता है। बहुतसे अरब-निवासी हर साल काफी खरीदनेके लिये दक्षिण भारतमे आते है। बम्बईमें कुछ कम्पनियां ऐसी है जो सीधे मङ्गलोरसे माल खरीद कर यूरोप भेजती हैं।

रेशमकी कारीगरी

—— o::o ——

इसमें सन्देह नहीं कि रेशमकी उपज भारतमें चीनसे ही आयी है। चीनमें रेशमके विषयमें एक दन्तकथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि ईसासे पूर्व १७०० ईस्वीमें चीनका तीसरा शासक हौङ्गटी था। वह रेशमके कीड़ोमें बहुत दिलचस्पी लेता था। उसके चौदह वर्षकी एक रानी थी। वह रेशमके कीड़ोसे उत्पन्न रेशमी कोयोको रखने लगी और उनके धागोंपर विचार करने लगी कि ये किसी काममें आ सकते हैं या नहीं? ऐसा करते-करते उसने कई कोयोंसे रेशमके धागे निकाले और उन धागो-का कपड़ा बुनकर पहननेके काममें लाने लगी। इसीलिये उस रानीका नाम "रेशमी कीड़ोंकी देवी" पड़ गया। उसका वास्त-विक नाम 'सिंगली ची' था।

भारत और जापान दोनो देशोंमें साथ-साथ ३०० ईस्वी में रेशमका प्रचार हुआ और तबसे दोनों देश चीनके प्रतिद्वन्द्वी बन गये।

भारतवर्षमें विशेषकरके बंगाल तथा कुछ पश्चिमी हिस्सोमें रेशम ३०० ईस्वीमें बहुत अधिक पाया जाता था और निस्सन्देह यही एक प्रलोभन था जिसके कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी इन प्रान्तोमें पहले पहल आयी थी और अपने प्रतिद्वन्द्वी डच, फ्रेञ्च

कोये खोले जा रहे है।

रेशमके कीड़े कोओंसे बाहर निकाले जा रहे हैं।

और आर्मेनियनोंसे उसको भारी प्रतियोगिताका सामना करना पड़ा था।

उस समय हिन्दुओंके एक प्रमुख राज्यकी राजधानी गौड़ थी और यह गौड़ अपने समयमे रेशमी वस्त्रोंके व्यवसायका प्रमुख केन्द्र था। यही गौड़ आजकल सोनपुर, ढाका और सप्तग्रामके नामसे मशहूर है। कुछ वर्षोंके बाद गौड़ मुसलमानोंके अधीन हो गया; क्योंकि मुसलमान लोग रेशम पहनना धर्म-विरुद्ध समझते थे; अतः इसके रेशमके पैदावार और व्यवसायमें भारी धक्का पहुचा। किन्तु थोड़े दिनों बाद जब राजधानी गौड़से उठाकर राजमहलमे कर दी गयी तो पुनः रेशमका काम जोरोसे चलने लगा।

बङ्गालमे अब रेशमका सारा कारबार चौपट हो गया है; थोड़ा बहुत जो बचा है उसमें मालदा सबसे आगे है। गत ३० वर्षों से मालदामे जितनी जमीन पहले जोती जाती थी अब उससे दूनी जोती जाने लगी है।

रेशमका काम तो तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। कोयोसे रेशम निकालना, धागेको लपेटना और कपड़ा बुनना। कोयोंको एकत्र करनेका काम वास्तवमें मनुष्यको बहुत थोड़ी जमीन रहनेसे भी मालदार बना सकता है। उसको केवल अपने कुछ बीघे जमीनमें कुछ सहतूतके पेड़ लगाने होंगे; इसके बाद वह चाहे उसकी पत्तियां बेचे या अपने कोयोंका लाभ स्वयं उठावे।

यदि वह अपने कोयोंसे स्वयं ही लाभ उठाना चाहे तो उसे कोयोंको एकत्र करना होगा। उसके बाद उन्हें गरम करना होगा जिससे वे ढीले पड़ जाते हैं। इसके बाद एक हाथसे धीरे-धीरे धागा निकालता जावे और लपेटता जावे। धागा आसानी-से निकलता जायगा। तब होशियारीसे छे या आठ कोयोंके धागेको (कोयोंके देखते हुए) एक अंगरेजीके 'I' आकारके एक लोहेके यन्त्रके छेदमें डाले। यह यन्त्र एक चौड़े बर्तनमें रखा रहता है। उसके बाद उस धागेको हाथमें लपेटे जो कि ज्यादातर दूसरा कोई लड़का सामने खड़ा होकर लपेटता है। ज्योंही एक कोयेका धागा समाप्त हो जावे तो दूसरा कोया उसमें डाले। इस प्रकार जो वस्तु कोयेसे रेशम निकाल चुकनेके बाद बाकी रह जाता है उसे चासम और चेरा कहा जाता है। ये चीजें भी कीमती हैं। इनके भी कपड़े बनते हैं। इस प्रकार कते हुए रेशमका ही 'मटका' नामका कपड़ा बनता है।

इससे यह प्रकट हुआ कि रेशमीन कोतोंसे रेशम निकालने-के लिये बहुत कम सामानकी आवश्यकता होती है। एक चौड़ा ताँबे या लोहेका बर्तन जो आगके ऊपर रखा रहे, एक T के आकारका लोहा और एक रील—बस।

यूरोपियन ढंगसे निकाले हुए रेशमको Filature silk कहते हैं और देशी ढंगसे निकाले हुए रेशमको खमरू। एक मन कोयोंसे Filature silk दो या तीन सेर निकलेगा और खमरू इससे आध सेर ज्यादा।

रेशमका जाल तैयार किया
जा रहा है।

रेशमका सूता रीलोंमें लपेटा
जा रहा है।

पहले केवल बीरभूम, मुर्शिदाबादमे ही रेशमका बीज खरीदा जा सकता था, किन्तु अब तो प्रत्येक व्यापारिक केन्द्रमें पाया जा सकता है। अपने आस-पास बीज रखनेसे बीमारीका भय रहता है। कीड़े निम्न प्रकारके होते हैं।

पुरानी, छोटा पालू, बड़ा पालू, चीना पालू, और बुला पालू, इनमें पहले दो तो बहुत पाये जाते है। चीना पालू ठण्डी मौसममें बीज देता है और पुरानी जिसे कुछ लोग मद्राजी भी कहते हैं, गरम मौसममें

कीड़े बांसके छतरेमें रखे जाते हैं और इन्हें दिनमें दो बार खिलाना पड़ता है। वे पैंतीस या छत्तीस दिनों बाद कातना आरम्भ करते है और तीन दिनमे एक कोया तैयार हो जाता है। कोयोंकी तीन प्रसिद्ध फसलें होती है और जब वे पक जाती हैं तो उनको लट्टू कहते हैं। सबसे पहला लट्टू नवम्बर माहका होता है। उसके बाद अगहन, माघ और फाल्गुनमें तैयार होते है और पीछे चैत, बैशाख और जेठमें। तब भादोमें। कीड़ोंसे रेशमके कोयोको निकालनेका काम ज्यादातर स्त्रियां ही करती हैं।

कोयोसे रेशम निकालनेके लिये एक लोहेके चौड़े बर्तनमें गरम पानी रखा जाता है और उसमे कुछ कोये छोड़ दिये जाते है जिससे धागा आसानीसे निकलने लगता हैं। एक आदमी एक छोटीसी लकड़ीसे उन्हें चलाता है।

मालदा शहरमें कोयोंसे रेशम निकालनेवाले बहुत अधिक हैं।

ये लोग किसानोंसे कोये खरीद् लेते हैं। कोयोंकी हाट लगती है और इसमें १००००) रु० तकका सौदा होना बहुत मामूली बात हैं। इसीसे बढ़ते-बढ़ते एक लाख रुपये तकका सौदा ये करते है।

इसका सौदा दलालोंके जरिये होता है। स्वयं खरीदनेके कोयेके नमूनेको देखकर इससे कितना माल निकल सकता है आदि बातोंकी बहुत बड़ी जानकारीकी जरूरत है। इसमें अधि-तर स्वयं खरीदनेसे आदमी ठगा भी जाता है।

कोयोंका मूल्य रेशमके बाजारपर निर्भर करता है। बाजारमें कभी-कभी यूरोपीय रेशम और देशी रेशममें होड़ लग जाती है। यूरोपीय रेशमका बाजार फ्रेञ्च और अङ्गरेज फर्मोंके हाथमें होता है। कुछ थोड़े से कोयोंसे वे अपने ही कारखानेमें रेशम निकल-वाते हैं किन्तु अधिकतर मुर्शिदाबाद व राजशाहीके आस-पासके जिलोंमें ही यह काम होता है; क्योंकि यहां मजदूर बहुत सस्ते मिल जाते हैं।

खमरूका बाजार मारवाड़ियोंके हाथमें है। जो रेशम निका-लनेका पेशा करते हैं वे लोग मारवाड़ी व्यापारियोंसे लाखों रुपया पेशगी लेकर कच्चा रेशम देनेका ठेका ले लेते है। खमरूका कच्चा रेशम नागपुर, मद्रास तथा युक्तप्रान्तको भेजा जाता है। पहले पहल यूरोपियन फर्मों और खमरूके बाजारमें काफी बाजी लगती थी; किन्तु इधर जापान और चीनके मालने दोनोंका बाजार गिरा दिया है।

भारतकी उपज

रेशमकी चादर बुनी जा रही है।

हम पहले कह आये है कि रेशमी कपड़ोको बुननेका काम मालदामें बहुत दिनोसे होता है। मालदामे रेशमकी साड़ी, धोती, रूमाल और रेशमो कपड़ोके टुकड़े जिनसे कोट आदि बन सकते हैं, तैयार किये जाते हैं, इसके अतिरिक्त सुन्दर चादरें भी तैयार होती हैं जो कि ज्यादातर गर्मीके दिनोंमें ओढ़ी जाती हैं।

रेशम बुननेवाले ज्यादातर महाजनोंके हाथमें ही होते हैं किन्तु सूती कपड़ा बुननेवालोंसे इनकी दशा अच्छी है। रेशम बुनने-वालोंसे महाजन ज्यादातर वे ही (रेशम बुननेवाले) होते हैं। ये लोग धीरे-धीरे अपने काममे उन्नति करके महाजन बन जाते हैं और अपने गरीब भाइयोसे अपने लिये रेशम बुनवाते हैं। इस तरह ये रेशम और रुपये दोनोंका कारबार करते हैं।

महाजन लोग ज्यादातर कारीगरोको रेशमी धागा दे देते हैं और जब उस धागेका कपड़ा तैयार हो जाता है तो बुने हुए कपड़े की नापके अनुसार दाम दे दिया जाता है जो ज्यादातर ३) से लेकर ७) तक पड़ता है।

बङ्गालके रेशमने इङ्गलैंडमें तहलका मचा दिया था। यहां-तक कि एक बार स्पिटल फील्टके कारीगरोने तंग आकर हड़-ताल कर दी थी। जब बंगालमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीका अधि-कार हुआ तो उसने रेशम निकालनेके ढंगमें उन्नति की। सन् १७५७ ई० मे विलायतसे मि० विण्डर बङ्गालके रेशममें जो त्रुटि रह गयी थी उसे दूर करनेके लिये भेजे गये। इसके बाद ही यूरोपीय ढंगसे रेशम निकाला जाने लगा जिसका श्रेय एक

फ्रेञ्चको है और इसका सबसे पहला कारखाना मि० गुडनीने बनाया।

इससे १७६० और १७६० ई० मे बंगालका रेशम बहुत मशहूर हो गया और इसी रेशमसे कम्पनी टरकी रेशमसे बाजी ले सकी थी।

आजकल सरकार और बंगाल-सिल्क-कमिटीके उद्योगसे इस क्षेत्रमें काफी उन्नति हो गयी है। शिक्षित ओवरसियर लोग इसकी देखभालके लिये नियुक्त किये गये है और कारीगरोंके लड़कोंकी शिक्षाका भी पूरा प्रबन्ध किया गया है तथा इन चीजोंसे उत्पन्न होनेवाली बीमारीपर भी पूरा ध्यान रखा जाता है।
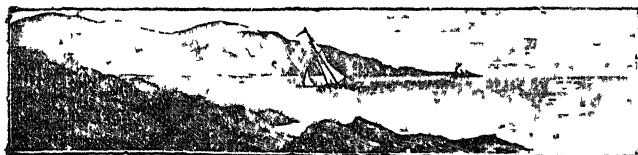
चायका व्यवसाय
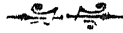
चीनदेश चायका आदि-स्थान कहा जाता है। वहीसे चाय आज संसारके सभी सभ्य देशोमें अपना स्थान बनाये हुए है। ईसासे हजारों वर्ष पूर्व चायका प्रयोग चीनमें होता था। वहांसे चाय उठकर ६ वीं शताब्दीमें जापान पहुंची। चीन और जापान-में चायका प्रचार जहां अत्यन्त प्राचीन है वहां उसके प्रसारमें भारतवालोंका भी हाथ रहा है। कैम्फरका कहना है कि जापान-को चायकी चाट किसी भारतीय यात्रीने बतायी, जिसका नाम दर्म था। अतः हो-न-हो ६ वी शताब्दीके पूर्व चायका व्यवहार भारतवर्षमें अवश्य होता होगा। १७ वीं शताब्दीके मध्यकालमें चाय डचोंके द्वारा सारे यूरोपमें फैल गयी।

वर्तमान प्रचलित ढङ्गसे भारतमे चायका व्यवहार करनेका प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनीके समयसे होता है। उसके पहले चाय भले ही भारतमें होती हो और कुछ लोग दवाके रूपमें या शौकसे भले ही पीते हों किन्तु यह मानी हुई बात है कि भारत पहले चायका व्यवसायी नही था। देशमें चायका आयात भले ही हो या न हो किन्तु भारतसे चायके निर्यातका इतिहास ईस्ट इण्डिया कम्पनीके पहलेसे नहीं मिलता है। भारतमे १७ वीं शताब्दीके मध्यकालसे चायका व्यवसाय प्रारम्भ हुआ। उस

समयतक भारतमें साधारणतया चायका व्यवहार व्यापक हो गया था। भारतमें रहनेवाले अंगरेज और डच भी चायका व्यवहार जोरोसे करते थे।

भारतमें जहां चायका प्रचार हो रहा था वहां इंगलैण्डमें चायकी मांग दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती थी। उस समय चायका व्यापार डचोंके हाथमें था। जावासे अंगरेज निकाल दिये गये थे। ऐसी दशामें भविष्यका विचार कर ब्रिटिश सरकार चिन्तित थी कि जब चीनसे हम चाय नहीं ले सके तो फिर चाय कहांसे मंगावेंगे। उसने भावी अनिष्टसे बचनेके उद्देश्यसे ईस्ट इण्डिया कम्पनीको भारतमें चायकी खेती करनेका परामर्श दिया। कम्पनीके डाइरेक्टरोंने काफी लाभकी आशासे ब्रिटिश सरकारके आदेशानुसार चायकी खेती करानेका कार्य सन् १७८७ में आरम्भ कर दिया और आवश्यक व्यवस्था करनेकी आज्ञा तत्कालीन गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्सको दे दी। उसी वर्ष सर जोसेफ बैङ्कर्सकी देख-रेखमें चायकी खेती करानेके सम्बन्धमें एक आयोजना तैयार करायी गई। सन् १७८८ में सर जोशेफ बोनार्सने चीन देशकी चायको बिहार, रंगपुर और कूचबिहारके जिलोंमें बोनेकी इच्छा गवर्नर जनरलसे प्रकट की। इस सम्बन्धमें धीरे-धीरे खोज हो ही रही थी कि सन् १८२०में आसामके प्रथम कमिश्नर मि० डेविड स्काटने आसामसे कुछ पत्तियां कलकत्ते यह कहकर भेजीं कि आसामवाले इसे जङ्गली चाय कहकर पुकारते हैं। अतः इसकी जांच की जाय।
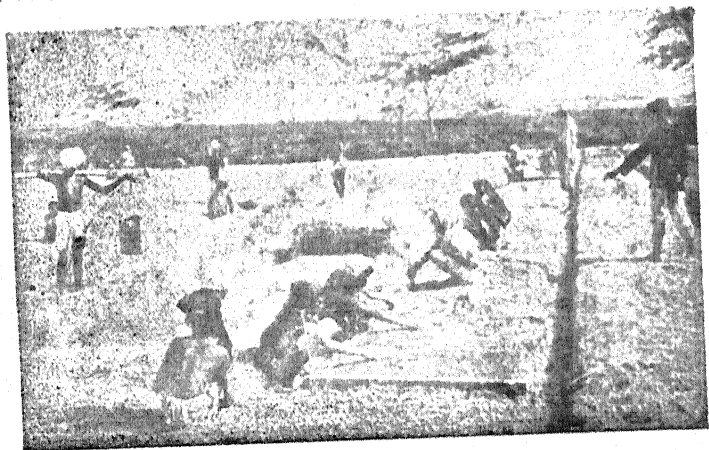
क्यारियोंमें चायके बीज बोये जा रहे हैं।

एक वर्षके पुराने चायके पौधे।

सन् १८३४ ई० में उस समयके गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिङ्कने २४ जनवरीको एक प्रस्ताव पास कर चायकी खेती करनेका प्रबन्ध-भार उठा लिया और मैंकिन्टोश एण्ड कम्पनी नामक फार्मके मि० जी० जे० गार्डन को चीन भेजा तथा डाक्टर एन० बालिचकी देखरेखमे एक कमेटी बनाई। डाक्टर एन० बालिचने आसाम कमिश्नरकी भेजी पत्तियोंके सम्बन्धमे पहले ही सन्देह किया था और इसी कारण वे लन्दन-की लीनियन सोसाइटीके पास निणयके लिये भेजी जा चुकी थीं। उधर चीनसे बीज मंगाकर कुमायूं जिलेमें प्रयोगात्मक खेती आरम्भ करदी गई। इसी बीच लन्दनकी सोसाइटीने निर्णय दे दिया कि वे पत्तियां निस्संदेह चायकी हैं। तब डाक्टर वालिच अपनी कमेटीके साथ जोरोंसे काम करने लगे। फल यह हुआ कि १८३७ ई० में कमेटीने भारतके पूर्वीय भूभागमें चटगांव और छोटानागपुर आदि जगहोमे चायका सुविस्तृत क्षेत्र खोज निकाला और तबसे चायका व्यवसाय दिन दोगुनी रात चौगुनी उन्नति करता आ रहा है।

सन् १८४० में पांच लाख पौण्डकी पूंजीसे आसाम कम्पनी नामक एक चाय कम्पनीकी स्थापना हुई। कच्छारमें पहिला बगीचा सन् १८५५ में लगाया गया। पहले चाय एक पेय पदार्थ मानी जाती थी परन्तु कुछ वर्षके बाद वह व्यवसायकी वस्तु मानी जाने लगी। 'आज भारतमें ४२७८ से अधिक चायके बगीचे हैं जिनमें आवश्यकतानुसार छोटे-छोटे कारखाने भी हैं,

जहां चायकी पत्तियोंसे चाय तैयार की जाती है और व्यवसाय-की दृष्टिसे चायको विभिन्न श्रेणियोंके अनुसार छांटकर निर्यात डब्बोंमें बन्द कर दिया जाता है। इस समय आसाम और बंगालके ब्रह्मपुत्र तथा सुर्माकी घाटियोंमें, दार्जिलिङ्ग, जलपाई-गोड़ी तथा चटगांवके मैदानमें चायके बगीचे लहलहा रहे हैं। नेपाल और संयुक्तप्रान्तके देहरादून, अल्मोड़ा, कुमायूं और गढ़वालके जिलोंमें भी चायकी खेती होती है। बिहार उड़ीसाके छोटा नागपुर जिलेमें भी चायकी खेतीका उद्योग सन् १८५३ ई० से होता चला आ रहा है। आज मद्रासके विनाद नीलगिरि, ऐनामलीज तथा ट्रावनकोरमें चायकी अच्छी खेती होती है।

आज-कल भारत दुनियाभरको आधेसे अधिक हिस्सा चाय दे रहा है। सौ, सवा सौ वर्षोंके भीतर ही भारतने ऐसी उन्नति की है। चीनके लोगोंने अन्धपरायणताके कारण नवीन पद्धति काममें नहीं ली। अतः चीनकी चाय धीरे-धीरे गिर रही है और प्रतियोगितामें भारतने बाजी मार ली है। सन् १९०७ ई० से सभ्य संसारने भारतकी चायको सर्वश्रेष्ठ करार दिया है। आज वहांकी चाय अत्यन्त लोकप्रिय हो रही है।

भारतीय चायकी कई किस्में होती हैं। वे आसाम, लूसाई, नागा पहाड़ी, मनीपुरी, वर्माशान, यूनान, चीनी आदिके नामसे सम्बोधित की जाती हैं। चायकी पत्तियोंकी चुनाई अप्रैल महीनेमें प्रारम्भ होती है और दिसम्बर तक चार बार चुनाई हो जाती है।

भारतकी उपज

चायके पौधे बागानोंमें लग ये जानेके लिये उखाड़ जा रहे हैं।

चायकी पत्तियां तोड़ी ज़ा रही हैं।

चुननेके बाद पत्तियां फैक्टरीमें लाकर तौली जाती हैं। फिर १८ से ३० घण्टेतक बांसकी छिछली टोकरियोंमें फैला दी जाती है। इसके बाद कड़ाहेमे डालकर आंच देते हैं। तव बेलनके नीचे वह दवा दी जाती है जिससे पत्तियोंकी नसे टूट जाती हैं। और पत्तीके छिद्रोमे भरा हुआ तेल पत्ता भरमें फैलकर मिल जाता है। इसके बाद दो-तीन घण्टे ठण्डे स्थानपर रखकर इसे निर्यात बक्सोंमे बन्द कर देते हैं।

भारतमें चायका व्यवसाय करनेवाली ज्वाइंट स्टाक कम्पनियोमें अनुमानतया २ करोड़ ८० लाख पौंडकी पूंजी लगी हुई है। कलकत्तेमे चायका भुगतान खरीदके १० दिन बाद होता है। कोई-कोई बगीचेवाले अपने बगीचोकी उपज पहलेसे ही बेच देने हैं।

चायकी लुगदीसे व्यवसायमें काम आनेवाला कैफियन नामका रासायनिक पदार्थ निकाला जाता है। अतः भारतसे चायकी लुगदी भी विदेश भेजी जाती है। इसकी खरीद ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिकावाले करते है।

यहांकी चाय सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो चुकनेके कारण चायके बीजकी मांग भी संसारके बगीचोंमें बहुत अधिक हो रही है, परन्तु भावमें उतार चढ़ाव होते रहने तथा वर्षो यहांकी चायके बीजका प्रसार निरन्तर होते रहनेके कारण आजकल मांग कम हो गयी है।

संसारमे सबसे अधिक चायके पीनेवालोंमें ब्रिटेनके लोग

है। यहां चायकी खपत सबसे अधिक होती है। इसके बाद रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, हालैण्ड, आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूजीलैण्ड आदिका स्थान क्रमानुसार चायके पीनेवालोंमें आता है। संसारकी आवश्यकताका ५० प्रतिशत भाग केवल भारत पूरा करता है। भारतकी चायके खरीदारोंमें ब्रिटेन, रूस, कनाडा और आस्ट्रेलिया प्रधान हैं। भारतकी चायको सीलोन की चायसे प्रतियोगिता करनी पड़ती है।

भारतकी चायने संसारके बाजारमें अपना एकाधिपत्य तो जमा रखा है पर स्वयं भारतमें चायका सारा व्यापार अङ्गरेजोंके हाथमें है। उन्होंने भारत सरकारसे अपने इस व्यापारके लिये आदिसे अन्ततक सभी सुविधायें प्राप्त कर रही हैं। अतः इस व्यापारको भारतीयोंका व्यापार कहना या मानना उचित नहीं है।
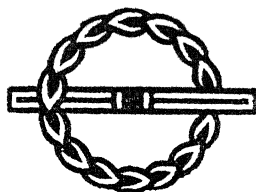
कुनैनका व्यवसाय

मलेरिया ज्वर भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें विशेषकर बहुत ही नुकसान पहुंचाता है। उसके लिये आजकल एकमात्र रामवाण औषध कुनैन ही आविष्कृत हुई है। कुनैन सिनकोना नामके एक प्रकारके पौधेकी छालसे तय्यार किया जाता है। अतः कुनैनके व्यवसायको हम सिनकोनेका व्यवसाय भी कह सकते हैं। भारतवर्षमें सरकारने बहुत-से व्यवसायोंपर अपना एकाधिपत्य जमा रखा है। सिनकोनेका व्यवसाय भी उनमेसे एक है।

सिनकौनेका इतिहास

सिनकोना भारतवर्षका आदिम उद्‌भिज पदार्थ नही है। दक्षिण अमेरिकाके पहाड़ी प्रान्तोमें पहले-पहल यह पाया गया था। वहांसे स्पेनके रहनेवाले यूरोपमे १६४० ई० के आस-पास लाये। यूरोपके डाक्टरोने ही सिनकौनेके गुण-दोषका विश्लेषण किया। जिस समय लेडी कैनिङ्गने भारतवर्षमें मलेरिया ज्वरके प्रकोपको स्थान-स्थानपर देखा उस समय उन्होने सिनकोनेके पौधेको भारतमें लाना आवश्यक समझा। उन्हीके उद्योगसे सन् १८६२ ई० मे सर क्लीमेण्ट मारखम सिनकोनेके पौधेको दक्षिण अमेरिकासे भारतवर्षमें लाया। उसके बाद चाय और कहवाके रोपनेवालोने इस व्यवसायको अपने हाथमे लिया।

तबसे सिनकोने और कुनैनकी उपज काफी होने लगी है। साथ ही दाममें भी बहुत कमी हुई है। कुनैन पहले २०) रुपये पौंड मिलता था, आज ६) रुपये पौंड मिलता है।

सिनकोनेकी किस्में

सिनकोनेकी करीब-करीब चालीस किस्में होती हैं। किन्तु भारतवर्षमें प्रधानतः चार ही किस्मके सिनकोने पाये जाते हैं। एक तो कैलिसाया सिनकोना (Calesaya), जिसकी ऊपरी छाल पीले रंगकी होती है। उसका पौधा नाटा, पर फैला हुआ होता है। दूसरा लेजरियना (Ledgeriana) सिनकोना कैलिसायाकी ही उपजाति होती है। फरक दोनोंमें इतना ही होता कि लेजरियनाका पौधा कम फैला हुआ होता है, पर उससे अपेक्षाकृत अधिक कुनैन तय्यार होता है। तीसरी किस्मका आफिसिनैलिस (Officinalis) सिनकोना होता है जिसका पौधा २० फीट ऊंचा होता है, किन्तु शाखायें बहुत कम होती हैं। इसका छिल्का भूरे रंगका होता है। सिनकोनेकी चौथी किस्म सुकिरूब्रा (Succerubra) है। इसकी छाल लाल रंगकी होती है। इसका पौधा ५० फीटतक ऊंचा होता है। और सब जातियां इन्हीं चार किस्मके सिनकोनेकी वर्णसङ्कर होती हैं।

क्षेत्रफल और खेती

यों तो सिनकोनेकी खेती भारतवर्षके सभी पहाड़ी भागोंमें
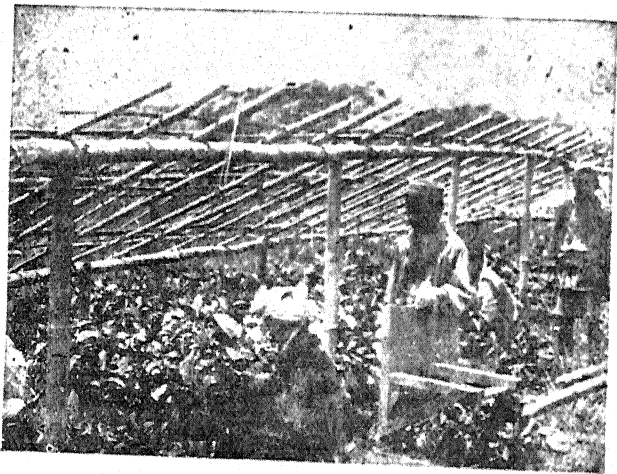
खुले मैदानमें रोपे जाने योग्य सिनकोनाके पौधे ।
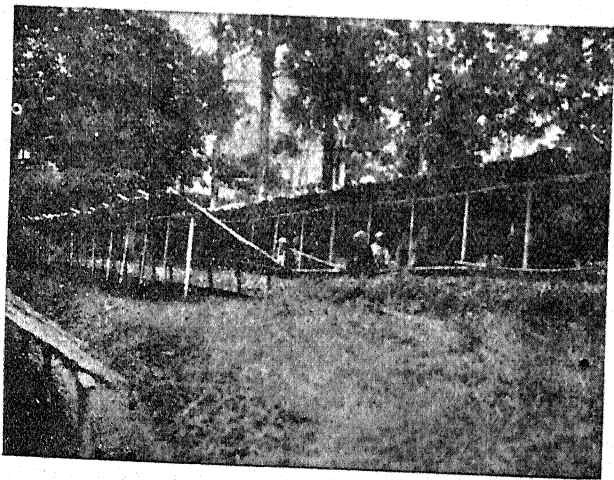
छोटे-छोटे पौधोंकी रोपाई ।

हो सकती है और कुछ-कुछ होती ही है, किन्तु उसके मुख्य केन्द्र दो ही हैं, एक मद्रास प्रेसिडेन्सीमें नीलगिरिके आस-पास और दूसरा दार्जिलिङ्ग मे। नीलगिरिके आस-पास कोयम्बटूर और तिनेबली जिलोंके आस-पास ३४१० एकड़ और दार्जिलिङ्ग-के आस-पास बंगालमें ५८६८ एकड़ जमीनमें सिनकोनेकी खेती होती है। दार्जिलिंगमें जितनी खेती होती है, वह सब गवर्नमेण्ट-की है, पर दक्षिण भारतमें ८०० एकड़पर गवर्नमेण्टका अधिकार है। बाकी जमीनमें दूसरे लोग खेती करते हैं।

सिनकोनेकी खेतीपर जलवायुका बहुत असर पड़ता है। सिनकोनेकी खेतीके लिये ऐसे स्थानकी जरूरत है, जहाँ जाड़े और गर्मी तथा रात और दिनके तापक्रममें विशेष अन्तर न हो। सालमें ५० लेकर १०० इञ्च तक बरसातकी जरूरत पड़ती है। नये साफ़ किये हुए जंगलमें सिनकोनेकी खेती बहुत अच्छी होती है। ढालुएं चारागाहोंमें यह अच्छी तरह उपज सकता है। धानकी तरह सिनकोनेके बीजको बोने और रोपनेके समय बड़ी सावधानीकी जरूरत होती है। गर्मी या बरसातके दिनों-में बीज बोना ठीक होता है। बीजवाला खेत ढालुआं होना चाहिये ताकि पानी बरसने पर उसमेंसे आसानीसे निकल जाय। आंधी-पानी तथा सूर्यकी प्रखर किरणोंसे बचानेके लिये बीजवाले खेतके ऊपर एक छप्पर डाल देना चाहिये। खेत और छप्पर तय्यार हो जानेपर बीजको बहुत घना क्यारियोंमें बो देते हैं और ऊपरसे मिट्टीकी एक पतली तह देकर धीरेसे दबा देते

हैं। दो हफ्तेसे लेकर आठ हफ्तेके बीचमें वे बीज रोपने लायक हो जाते हैं। तब उन्हें क्यारियोंमेंसे उखाड़कर फिर दो इञ्चकी दूरीपर रोपते हैं। जब वे ४, ५ इञ्च के हो जाते हैं तब और अलग-अलग दूरीपर रोपते हैं। यहां तक वे छप्परके नीचे ही रहते हैं। जब वे कुछ और बड़े हो जाते हैं तब उनपरसे छप्पर हटा दिया जाता है। बोने और रोपनेमें ८ महीनेसे लेकर १२ महीने तक लग जाते हैं। पौधोंकी रोपाई बादलके मौसिममें होती है। अन्तिम रोपाईके समय उनमें चार फीटका अन्तर रखना चाहिये।

छिल्का छोड़ाना

अच्छा और कामलायक छिल्का प्राप्त करनेके लिये यह जरूरी है कि पेड़को काफी समय तक बढ़ने दिया जाय। भिन्न-भिन्न किस्मके सिनकोनेके लिये भिन्न-भिन्न समय निश्चित है। सुकि-रूबराके लिये ६ वर्षका समय बिल्कुल उपयुक्त है। आफिसि-नैलिस सिनकोनेके पौधोंको १० से १५ वर्ष तक बढ़ने देना चाहिये। छिल्का छोड़ानेके तीन ढंग हैं। एक तो यह कि पौधेको जड़से काट लेते हैं और ऊपरसे उसे मिट्टीसे ढक देते हैं ताकि जमीनके भीतरकी जड़ पनपकर फिर पौधेका रूप धारण कर ले। दूसरा ढंग है, पौधेको कुछ ऊंचाईपरसे अर्थात् तनेसे काटना। प्राय: देखा गया है कि जड़से काटनेपर चीटियां जमीनके भीतरकी जड़को खोखली कर देती हैं। इसलिये तनेसे काटा जाने लगा। तीसरा ढंग है, पौधोंको जड़से
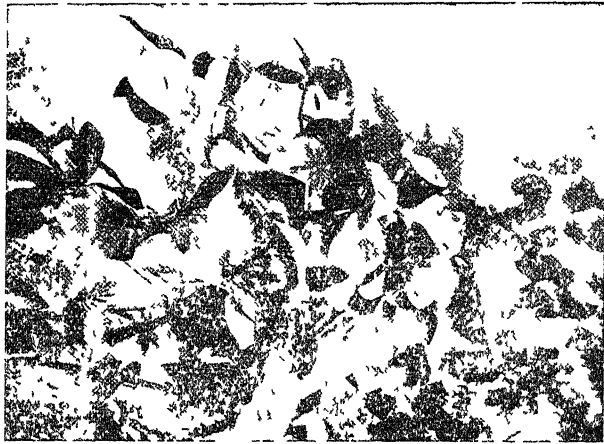
लेजरियना (सिनकोना) को पत्तियां और फूल।

उखाड़कर छिलका छोड़ाना और फिर उसी जमीनमें सिनकोना बोना।

छिलका छोड़ानेके लिये सबसे अच्छा मौसिम जाड़ेका होता है। छिल्केको आसानीसे छोड़ानेके लिये पौधोंको ऊपरसे लंबाई और चौड़ाईमे चीर देते हैं। चीरनेके बाद चाकूसे छिल्केको उठा लेते हैं और तब उसे हाथसे खींचकर छुड़ा लेते हैं। छिल्का छुड़ा लेनेपर उसे सुखाते हैं। जब वह धूपमें अच्छी तरह सूख जाता है, तब उसे एक घरमें रखकर सौ डिग्री सेण्टीग्रेडके तापक्रम तक गर्म करते हैं। इसके बाद छिल्का कुनैन तैयार करनेलायक हो जाता हैं।

कुनैनकी बनावट

छिल्का जब सुखानेवाले कमरेमेंसे बाहर निकाला जाता है तब उसे खलमें या ओखलीमें या किसी मशीनमें पीसकर पाउडर बना लेते हैं। पीछे इस पाउडरके शेलके तेल (Shale Oil) और कास्टिक सोडाके मिश्रणमें घुलाते हैं। इसके बाद उसको एक भांड़में लेकर गर्म करते है। उस गर्म तेलको तब साधारण गन्धकके तेजाब (Deluted sulphuric acid) से मिला देते हैं। तब छार नीचे बैठ जाता है और तेल अलग हो जाता है। तेलको फिर उसी काममें लाते है। तेजाबके साथ जो मिश्रित पदार्थ होता है उसे फिर गर्म करते और कास्टिक सोडासे उसे उभय सामान्य कर देते हैं। तब उसे कांचके

बर्तनमें ठंढा होने देते हैं। ऐसा करनेसे कुनैन सलफेट तय्यार हो जाता है। कुनैन सलफेटको फिर कई रासायनिक पदार्थों द्वारा साफ करते हैं। बचे हुए द्रव पदार्थसे कास्टिक सोडाको सहायतासे कुनैन फेब्रिफ्यूज तैयार करते हैं।

निर्यात और व्यापार

भारतवर्षमें जितना सिनकोनेका छिल्का किसी भी रूपमें तैयार होता है, उतना या तो बाहर भेज दिया जाता है या सरकार उसे स्वयं खरीद लेती है। हिन्दुस्थानमें भारत सरकारकी दो फैक्टरियां हैं। नीलगिरिके आस-पास एक नेदूवट्टममें और दूसरी दार्जिलिंगके आस-पास मौंगपोमें। ये दोनों फेक्टरियां कुनैन सलफेट और सिनकोना फेब्रिफ्यूज (Cenchona Febrefuge) भी हैं। मलेरियासे भारत भरकी मांगके लिये ये दोनों फैक्टरियां काफी कुनैन तैयार कर देतो हैं। भारतवर्षके सभी पोस्ट आफिसोंमें कुनैन सलफेट बेचा जाता है। यह या तो पाउडरके रूपमें पुड़ियेमें बन्द करके बेचा जाता है या Treatment के नामसे २४ गोलियां एक साथ बेची जाती हैं। १९२७-२८ ई० में भारत सरकारको कुनैन सलफेटकी बिक्रोसे ३९२०४६ रु० ८ आने मिले थे। सिनकोना फेब्रिफ्यूज आदिकी बिक्रीको मिला कर तो ५३८२०२ रु० ५ आना ९ पाई मिले थे। यूरोपीय महासमरके पहले भारतवर्षसे सिनकोनेके सभी छिल्के इंगलैंडको भेज दिये जाते थे। प्रति साल ६००००० पौंडके आस-पास

छिल्का भेजा जाता था जितना दाम १५०००० रुपयेके आस-पास होता था।

यूरोपीय युद्धके बाद भारतवर्षके सभी दक्षिणी प्रान्तोंका सिनकोनेका छिल्का मद्रास गवर्नमेण्ट द्वारा खरीद लिया जाने लगा जिसे लेकर वह नेदूबट्टमके पास स्वयं कुनैन सलफेट तय्यार करने लगी। ऐसा करनेसे भारतके निर्यातमें बहुत कमी पड़ गई। उसके बादसे १६०१० पौंडके आस-पास छिल्का बाहर भेजा जाता है।

आयातके रूपमें बाहरसे कुनैन ही आता है। १६२२-२३ में ७१६०६ पौंड कुनैन बाहरसे हिन्दुस्तानमें आया था। २६६ पौंड छिल्का भी जावासे आया था। इंगलैण्ड, अमेरिका और जावा-से ही कुनैन भारतमें भेजा जाता है। इनमें सबसे ज्यादा कुनैन जावासे ही आता है।
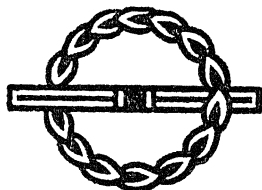
हाथी दांतकी कारीगरी व व्यवसाय

हाथी दांतकी कारीगरीका व्यवसाय उस समयसे बंगालमें प्रारम्भ हुआ जब बंगालकी राजधानी नवाबोंकी जमीनमें ढाकासे बदलकर मुर्शिदाबादको बनाई गई। बंगालमें इस व्यवसायके विषयमें एक विचित्र दन्त-कथा सुनी जाती है।

एक दिन बंगालके नवाबने कान खोदनेके लिये एक तिनका मांगा। नौकरोंने घासका एक टुकड़ा दे दिया। इसपर नवाब साहबने घृणाकी दृष्टिसे देखकर उसे फेंक दिया और कहा कि मेरे वास्ते शीघ्र ही हाथी दांतका एक तिनका मँगवाओ।

हाथी दांतकी कारीगरी बहुत दिनोंसे दिल्लीमें होती आ रही थी। एक दूत वहांसे एक कारीगरको बुलानेके लिये भेजा गया। कारीगर आकर नवाबके लिये एक पतला तिनका बनाने लगा। एक हिन्दू भास्करने उस कारीगरको एक छेदके बीचसे झांककर कारीगिरी करते हुए देखकर उस कलाको सीख लिया और अपनी उस कलाको अपने पुत्र तुलसी खतम्बरको सिखा दिया।

तुलसी एक धर्मात्मा हिन्दू था। राज्यमें उसको नौकरी हो गई। काफी रुपया इकट्ठा हो जानेपर उसकी तबीयत हिन्दुओं-के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पवित्र तीर्थोंकी यात्रा करनेकी हुई। किन्तु इस डरसे कि कहीं नवाब साहबको यह बात मालूम न हो जाय, वह

चुपकेसे राज्यसे बाहर हो जाना चाहता था। नवाबको यह बात किसी तरह मालूम हो गई। उसने सिपाहियोंको उसका पहरा देनेके लिये तैनात कर दिया ताकि वह राज्यसे निकल न भागे। कुछ दिनके बाद तुलसी सबोंकी आंखोंमें धूल डालकर राज्यसे निकल पड़ा और १७ वर्षतक देश-देशान्तरमें घूमकर तीर्थोंका दर्शन करता फिरा। जब वह १७ वर्षके बाद लौटकर मुर्शिदाबाद पहुंचा तबतक पहला नवाब मर चुका था। उसका बेटा गद्दीपर बैठा था। उसने आज्ञा दी कि पुराने नवाबको एक हाथी दांतकी मूर्ति बनाओ नहीं तो तुम्हारी जान मार डाली जायगी।

तुलसी खतम्बरने अपनी कल्पना और स्मरण-शक्तिके बलपर ऐसी सुन्दर और सुडौल मूर्ति नवाबकी बनाई कि जान पड़ता था कि नवाब अब बोले अब बोले। नये नवाबने खुश होकर उसे प्राण-भिक्षा दी और जितने दिन तक वह गैरहाजिर रहा उतने दिनकी तनख्वाह भी जोड़ कर सब दे दी। साथ ही महाजन्तुली गांवमे उसे एक महल भी दिया गया।

मुर्शिदाबादके कारीगरोंके सामने अब भी जब कोई तुलसी खतम्बरका नाम लेता है तो वे बड़ी भक्तिके साथ दोनों हाथ जोड़कर मन-ही-मन उन्हें प्रणाम करते हैं।

मुर्शिदाबाद जिलेके बरहमपुरके रहनेवाले हाथी दांतके कारीगर बड़े मशहूर हैं। इंगलैण्ड और यूरोपकी प्रदर्शिनियों-मे जाकर इन लोगोंने अपनी कलाका जो दिग्दर्शन कराया है वह दुनियामें अपने ढंगका अनोखा हुआ है। हाथी दांतके इतने छोटे-

छोटे टुकड़ोंपर बहुतसे विषयोंका चित्रण करना बरहमपुरके कारीगरोंका ही काम है।

थोड़े से हथियारोंकी सहायतासे बरहमपुरके कारीगरोंने प्रसिद्ध चित्रकार लेयार्डके 'नाइनवे' नामक प्रसिद्ध कृतिसे चतुरंगिणी सेनाका अनुकरण करके जो माडेल एक छोटेसे हाथी दांतके टुकड़े पर बनाया है वह कमालका है। उनके बनाये हुए भारतीय जानवरोंके माडेल तो संसारकी ललित कलाओंके उदाहरणमें रखनेयोग्य हैं। अपनी कारीगरीका काम करते समयका अपना और अपने कामका एक साथमें माडेल बनानेमें तो मुर्शिदाबादके कारीगर भारतवर्षमें सबसे अच्छे हैं।

हाथी दांतपर कारीगरी करना उनका खान्दानी पेशा नहीं है। शुरू-शुरूमें इन्हें मिट्टी और काठकी मूर्तियाँ बनाना सिखाया जाता है। उसके बाद काठके टुकड़े पर खोदाई और कारीगरी तथा दीवालों पर चित्रोंकी रंगाई उन्हें सिखाई जाती है। इसके बाद हाथी दांतकी सुकुमार और दुर्गाह्य कारीगरीकी शिक्षा उन्हें दी जाती है।

आजकलके कारीगरोंका पैतृक सहज ज्ञान आधुनिक आर्थिक दुरवस्थाके कारण लुप्त-सा हो रहा है। उतनी खूबीके साथ छोटे स्थानमें बहुत चित्रों और भावोंका दिग्दर्शन कराना अब उनके लिये मुश्किल हो रहा है; क्योंकि पहलेके नवाबोंकी तरह उनकी कलाका वास्तविक मूल्य देनेवाले शौकीन आदमियोंकी कमी हो गयी है। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके जमानेमें बहरमपुर

हाथी दांतका महल ।

और कासिमबाजारके अंग्रेज अफसर उनकी कलाके लिये उचित वेतन देना जानते थे। अतः यह व्यवसाय उस समयमें भी सुचारु रूपसे चलता रहा। इस व्यवसायकी उन्नति नवाबों-के दरबार या शौकीन और धनी राजे महाराजे तथा अंग्रेज अफसरोंके महलोंपर ही निर्भर है। जब नवाबोंकी सत्ता और कम्पनीके प्रभुत्वका नाश हो गया, तब धीरे-धीरे हाथी दांतकी कारीगरी और व्यवसाय भी अवनतिकी ओर अग्रसर हुआ।

उचित उत्साह और सहायता नहीं पा सकनेके सबबसे कारीगर लोग वस्तुकी कारीगरी और कलाकी ओर विशेष ध्यान नही देकर अधिक संख्यामें तैयार करनेकी ओर झुक पड़े।

बहरमपुरको जब एक सैनिक-स्थान होनेका अवसर मिला तो इस व्यवसायने फिर थोड़े समयके लिये उठनेकी कोशिश की, किन्तु शहरकी अवनतिके साथ-साथ इसकी भी धीरे-धीरे अवनति होती गई। बीचमें ईस्टर्न बंगाल रेलवेके बन जाने और बम्बई तथा कलकत्तेसे व्यापार करनेमे सुभीता होनेके कारण यह व्यवसाय बच गया। नहीं तो बहुत पहले ही इसका लोप हो गया होता।

गवर्नमेण्ट पहले इंगलैण्डमें या देश-विदेशकी किसी प्रद-र्शिनीमें अपने राज्यकी कलाका ज्ञान करानेके लिये पहले कारी-गरोंके पास आर्डर दिया करती थी। किन्तु अब तो जब कभी कहींपर प्रदर्शिनीमें हाथी दांतकी कारीगरीका नमूना दिखानेकी

जरूरत पड़ती है तब गवर्नमेण्ट मुर्शिदाबादके नवाब और कासिमबाजारके महाराजासे मंगनी मांगकर अपना काम चलाती है। मुर्शिदाबादके नवाब और कासिमबाजारके महाराजाके पास हाथी दांतकी कारीगरीके सबसे सुन्दर नमूने हैं। गवर्नमेण्टके इस मंगनी माँगनेसे भी कारीगरोंको कुछ धक्का लगा है।

मुर्शिदाबादके मथरा, दौलतबाजार और रनशागोग्राम आदि गावोंमें पहले जमानेमें यह व्यवसाय बड़े जोरोंके साथ चल रहा था। किन्तु आजकल वहांपर इस व्यवसायका नाम भी सुननेमें नहीं आता। आज-कल भी सन्देह किया जाता है कि उस समयके २५ घर ऐसे हैं जिनकी जीविका हाथी दांतकी कारीगरीपर निर्भर थी और उनमें बहुतसे नक्काशीकिये अभी तक हैं। बहरमपुरसे दो फर्लाङ्गकी दूरीपर स्थित खागड़ा गांवमें अभीतक हाथी दांतपर काम करनेवाले लोग रहते हैं और इधर कुछ वर्षों से वे लोग मुर्शिदाबाद एजेंसीकी सहायतासे अपने कामके लिये कुछ 'आडर' भी पाने लगे हैं।

इस कलाकी खूबी, सूक्ष्मता जिसके लिये ७० या ८० भिन्न-भिन्न औजारोंकी जरूरत पड़ती है और बिना जोड़के साथ मूर्ति बनानेमें है। जो अच्छे कारीगर होते हैं, वे एक ही टुकड़ेपर अपनी कारीगरी दिखलाते हैं। दो या अधिक टुकड़ोंको जोड़कर बनानेसे वे जी-जानसे नफरत करते हैं। थोड़े ही स्थानमें अधिक भावोंका भरना ही तो किसी कलाका चरम-गुण है। जहांतक उनसे हो सकता है, वहां तक वे इस गुणको बनाये रखनेकी

हाथी दांतपर ऊंटका माडेल।
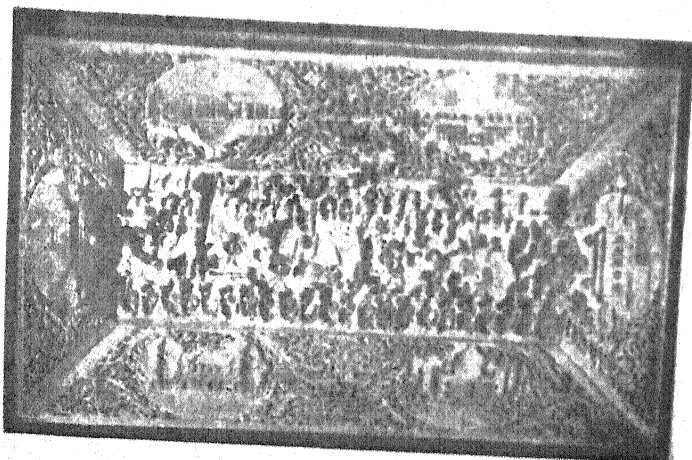
हाथी दांतपर चतुरंगिणी सेनाका दृश्य।

कोशिश करते हैं। उनके हथियार बहुत साधारण भारतीय बढ़ई जातिके हथियारोंकी तरहके होते हैं। उनमेंसे कुछ बढ़इयोंके हथियारोसे अधिकतर सूक्ष्म और छोटे होते हैं। वे आसाम और बर्माके हाथी दांत अधिकतर पसन्द करते हैं, क्योकि वह बहुत मुलायम और हल्का होता है। साथ ही बिना किसी चीजसे मुलायम किये हुए वह खरादपर चढ़ाया जा सकता है।

कारीगर सबसे पहले जो काम करता है, वह है अपने कामके लायक नाप कर हाथी दांतसे टुकड़ेका काट लेना। इसके बाद जिस चीजकी मूर्ति बनानी होती है, उसका एक चित्र उस टुकड़ेपर पेन्सिलसे बना लिया जाता है। कभी-कभी तो डिजाइनको कागजपर ही बना लेते है बशर्ते कि वह डिजाइन पहलेसे बनाया करता है।

इसके बाद खरादके जरिये एक भद्दा माडेल बना लिया जाता है। ये खराद बड़े और छोटे दोनों होते हैं। जो कारीगर अनुभवी होता है वह बिना चित्र बनाये ही माडेल तैयार कर लेता है। भद्दा माडेल तैयार हो जानेपर उसपर कारीगरी और नक्शाकशी करना प्रारम्भ होता है। जिस मूर्त्तिको भीतरसे खोखली बनाना होता है उसके लिये बहुत ही पतले और सूक्ष्म बेधनीसे उसे छेद्कर खोखला बनाते हैं। सब तैयार हो जानेपर उनपर कलम फेरकर कामको खतम करते हैं। वह कलम काठकी नहीं लोहेकी होती है। वे भिन्न-भिन्न श्रेणीकी मोटी और पतली होती हैं। कुछ तो सुई जैसी सूक्ष्म और कुछ

चाकू जैसी चौड़ी होती है। जब माडेल बनकर बिलकुल तैयार हो जाता है, तब उसके ऊपरी धरातलको पालिश करते हैं। पालिश पहले तो मछलीकी हड्डी और बादको चाकसे करते हैं। जब वे यह देखते हैं कि उन्हें किसी नयी चीजकी मूर्ति बनानी है और उनके पहलेके हथियार उस मूर्तिको बनानेमें सहायता नहीं देंगे तो वे मिस्त्रीके पास जाते और मिस्त्री उनके मनोनुकूल हथियार बना देता है। मूर्तियोंको खड़ा करनेके लिये या जोड़नेके वे लोग हाथीदांतके छोटे-छोटे कील-कांटे प्रयोगमें लाते हैं। भारतवर्ष इस व्यवसायके द्वारा भी बहुत कुछ उपार्जन कर सकता है।
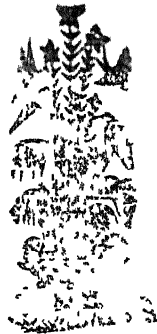
नेपालका जंगल

हम बराबर ही रेलवे लाइनपर लोहेकी रेलोको काठकी पटरियोंपर मजबूतीसे बैठाया हुआ देखते है; मगर हममेंसे बहुत कम लोग यह जानते हैं कि ये काठकी पटरियां कहांसे बनकर आती हैं। भारतकी तमाम रेलवे.लाइनोंके लिये अधिकांश पटरियां नेपालके जंगलसे आती हैं। हम यहां उसी जङ्गलका थोड़ा बहुत वर्णन करेंगे तथा यह बतानेकी चेष्टा करेंगे कि वहां किस तरह काम होता है।

यह नेपालका जङ्गल हिमालयकी तराईमे ब्रिटिश भारत और नेपाल-राज्यकी सरहदपर ही है। यह प्रायः ६०० मीलकी लम्बाईमे फैला हुआ है। इसमे अधिकतर साल वृक्ष है जिनकी मोटाई लगभग १८ से लेकर २० फुट तक होती है और लम्बाई १०० से लेकर १५० फुट तक होती है। यह जङ्गल बड़ा ही घना और भयावह है। इसकी लकड़ी बड़ी मजबूत और सुन्दर होती है। यह जंगल इतना विशाल है कि इसकी लकड़ी कभी समाप्त ही नहीं हो सकती। एक ओर जबतक पेड़ काटे जायंगे तबतक दूसरी ओर फिर तैयार होते जायंगे।

इस जङ्गलसे लकड़ी काटने और उसका प्रबन्ध करनेके लिये एक संस्था नेपाल सरकारने स्थापित कर दी है, जिसका नाम

है—नेपाल गवर्नमेंट स्लीपर आरगनाइजेशन। यह संस्था लगभग १२-१३ वर्षों से काम कर रही है। इस संस्थाकी एक रेलवे-लाइन भी जङ्गलमें है, जो समयानुसार अपना रास्ता बदलती रहती है। इसकी लाइन केवल २ फुट चौड़ी है। जहांपर 'मीटर गाज' लाइन समाप्त हो जाती है, वहांसे आधे मीलकी दूरीपर ब्रिटिश भारतकी सीमा पार करती हुई लगभग ३१ मील जङ्गलमें यह लाइन गयी है। यह लाइन खूब अच्छी मजबूत लोहेकी रेलों तथा सालकी पटरियोंसे बनाई गयी है। कहते हैं, इसपर आज-तक कभी ऐसा नहीं सुना गया कि कोई गाड़ी पटरीसे उतर गयी हो। यह लाइन बहुत अधिक टेढ़ी-मेढ़ी भी नहीं है।

यह लाइन प्रायः ७ पहाड़ी नदियोंको पार करती है, जिनपर लोहेकी रेलोंके पुल बने हुए हैं। मगर ये पुल बरसातमें बाढ़से रक्षा करनेके लिये नहीं बने हैं। बरसात शुरू होनेके पहले ही प्रति वर्ष ये पुल तोड़ दिये जाते हैं और फिर वर्षा-ऋतु समाप्त होते ही पुनः बना दिये जाते हैं।

इस लाइनपर तीन रेलगाड़ियां हैं, जिनमें प्रत्येकमें २१ डब्बे होते हैं। हर एक डब्बेमें लगभग १०० चौड़े पैमानेके स्लीपर आ सकते हैं। जब कभी कुछ यात्रियोंको उससे जानेकी जरूरत पड़ती है तो एक खुला डब्बा जोड़कर उसमें कुर्सियां रख दी जाती हैं। एक डब्बेमें प्राय. ३२० टन माल जा सकता है। इन गाड़ियोंके इञ्जिनमें ३७८ गैलन पानी और १५ हंडरवेट कोयला रखनेका स्थान बना होता है। मगर इन इञ्जिनोंमें कोयलेका

साल वृक्षके तने आरेसे चीरे जा रहे हैं ।

लकड़ी चीर कर तैयार किये हुए स्लीपर
इकट्ठा करके रखे गये हैं ।

इस्तेमाल नहीं होता ; क्योंकि वहांतक केवल इसी कामके लिये ब्रिटिश भारतसे कोयला ले जानेमें बहुत खर्च पड़ जाता है। कोयलेको जगहमें जंगलका काठ काममें लाया जाता है। काठकी पटरी तथा अन्य कामोंके लिये लकड़ी निकालनेके बाद जो छांट बच जाती है, या जो खराब लकड़ी निकलती है, उसे इञ्जिनमें जलाया जाता है। घने जंगलसे होकर जानेके कारण इन इञ्जिनोमे जो सर्चलाइट लगायी जाती है वह बहुत तेज होती है, जैसी ई० आई० आर० की मेल या एक्सप्रेस गाड़ियोंमें लगायी जाती है। इतने तेज प्रकाशके कारण यह गाड़ी बड़ी भयावह दिखायी पड़ती है। पूरी गाड़ीमें लगभग २१ हजार चौड़े पैमानेके स्लीपर जाते है जो प्रायः १ मील लम्बी लाइनपर बिछाये जा सकते है। इस लाइनकी गाड़ियां ठीक समयके अनुसार चला करती हैं और ३१ मील की यात्रा तीन घंटेमे पूरी करती हैं।

इस रेलवे लाइनके अन्तिम स्टेशनपर एक स्लीपर डिपाट है जहां लगभग ३।४ वर्गमीलमें तैयार काठकी पटरियाँ बाहर भेजनेके लिये पड़ी रहती हैं। ये पटरियां बैलगाड़ियो, ऊंटो और हाथियोंपर लदकर जंगलके भीतरसे प्रायः १० मीलसे आती हैं, जहांपर पेड़ काटकर गिराये जाते हैं और चीर कर पटरियां बनायी जाती हैं। जंगलसे स्टेशनपर आनेके बाद फिर प्रत्येक पटरीकी जांच होती है कि उनपर भेजे जानेका मार्का पड़ा है या नहीं और उसके बाद तब वे गाड़ीपर लादी जाती हैं। उस स्टेशनपर पटरियोंका इतना अधिक स्टाक जमा रहता है

कि देखनेवाला अचंभेमें आ जाता है। उस डिपाटसे प्रायः ४२०० पटरियां प्रति दिन बाहर भेजी जाती हैं।

पटरियाँ बनानेका काम जिस संस्थाके जिम्मे है, वह सालमें केवल ५-६ महीने तक काम कर सकती है। जब कभी जोरकी बारिश हो जाती है तो सारा काम बन्द हो जाता है। वहांकी जमीन ऐसी है कि पानी पड़ जानेपर बैलगाड़ियां नहीं चल सकतीं; दूसरे रेलवे लाइनपर पानी लग जाता है और पहाड़ी नदियां देखते-देखते समुद्रका रूप धारण कर लेती हैं, जिससे रेलगाड़ीका चलना खतरनाक समझा जाता है। बीच-बीचमें इस तरह काम रुक जानेके कारण 'स्लीपर डिपाट' में विशेष प्रबन्ध किया गया है जिससे वहां काफी माल सुरक्षित रखा जा सके। मौसमका प्रश्न इतना महत्वपूर्ण है कि हर रोज पूनासे तार मंगाया जाता है जिसमें खराब मौसमकी सूचना हुआ करती है। इस संस्थाका संघटन इस रूपमें किया गया है जिसमें थोड़े समयमें ही वह ६ से ८ लाख तक चौड़े और मीटर पैमानेके स्लीपर तैयार कर सके।

इस संस्थामें लगभग १४ हजार आदमी काम करते हैं, जिनमें ६५ फी सदी आदमी ब्रिटिश भारतसे भर्ती करके लाये जाते हैं। इन लोगोंको काफी तनख्वाह मिलती है। यद्यपि यह संस्था नेपालमें है, फिर भी इसमें प्रायः ६ हजार पंजाबी अरकसिया (लकड़ी चीरनेवाले), ३ हजार हिन्दुस्थानी गाड़ीवान और सैकड़ों रेलवेमें काम करनेवाले आदमी ब्रिटिश भारतके ही

हैं। इस संस्थामें प्रायः सब काम हाथसे ही होता है। मशीनोंका इस्तेमाल नहीं होता।

एक साथ प्रायः ८० वर्गमील जंगलमें पेड़ काटने और लकड़ी चीरने आदिका काम होता है। प्रत्येक स्थानसे लकड़ी रेलवे लाइन, सड़क आदितक पहुंचानेके लिये जंगल काटकर रास्ते बनाये जाते हैं। इस काममें हर समय सैकड़ों कुली लगे रहते हैं। केवल हाथियाँ अपने लिये स्वयं रास्ता बना लेती हैं। इसलिये हाथीपर चढ़कर एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेमें जङ्गलकी सच्ची भीषणता दिखायी देती है। चारों ओर सघन जङ्गल खड़ा है, और बीचमें जगह-जगह तीन-तीन, चार-चार सालके वृक्षोंको गिराकर अरकसिये चीर रहे हैं। पेड़मेंसे ६-६ फुट लम्बे पहले टुकड़े काट लिये जाते हैं और फिर चौड़े पैमानेके स्लीपरकी नापके अनुसार निशान बना दिये जाते हैं। इन्हीं निशानोंके अनुसार फिर लकड़ी चीर दी जाती है। जो स्लीपर कामके योग्य समझे जाते हैं, उन्हींके अनुसार अरकसियोंको मजूरी दी जाती है। स्लीपर पेड़के बिलकुल भीतरी हिस्सेके, जिसे सारिल लकड़ी कहते हैं, बनाये जाते हैं। लकड़ीमें अगर कहीं जरा भी दोष दिखायी देता है, तो वह रद्द कर दी जाती है। ऐसा करनेसे बहुतसी लकड़ी बेकाम जरूर निकल जाती है, मगर उसका उपयोग दूसरे कामोंमें हो जाता है। स्लीपरके बाद जो काठ बचता है, उसमेंसे चौड़े तख्ते, कड़ी तथा चारपाईके पार और पाटी आदि निकाल लिये जाते हैं।

एक बात बड़े मजेकी है। वह यह कि नेपालके जंगलमें कोई ऐसा पेड़ नहीं काटा जाता जिसकी मोटाई ५ फीट ३ इञ्चसे कम हो। इतने मोटे पेड़की उम्र लगभग १०० वर्ष समझी जाती है। एक बार एक पेड़ १८ फुट ३ इञ्च मोटा काटा गया था और उसमेंसे ६२ चौड़े पैमानेके तथा ३० एक मीटर चौड़े स्लीपर निकले थे। इसके अतिरिक्त काफी तख्ते, कड़ियां तथा चारपाई-के पैर आदि निकले थे। उस पेड़की उम्रका अन्दाजा ८०० वर्ष लगाया जाता था।

इस संस्थाके कामके लिये मजूरोंकी जिस सेनाकी आवश्य-कता होती है, वह समूची जंगलमें ही कामके स्थानके आसपास घास-फूसकी झोपड़ियां बनाकर रहती है। इनके भोजनका सामान सब ब्रिटिश भारतसे जाता है और सुविधाजनक स्थानोंमें बाजार आदि लगते हैं। ६ महीनोंतक यह स्लीपर बनानेवालोंका दल सभ्य संसारसे अलग रहकर शांति और प्रसन्नताके साथ अपना काम करता रहता है।

नवम्बरसे लेकर मार्च महीनेतक वहांका मौसम खूब अच्छा रहता है। उन दिनों दिनमें गर्मी और रातमें सर्दी रहती है। मगर मार्चके बाद वहांकी गर्मी सहन नहीं की जा सकती और बरसातमें वहांकी आबहवा इतनी खराब हो जाती है कि वहांके आदि निवासी नेपाली भी—यद्यपि वह बहुत थोड़े होते हैं—जंगल छोड़कर चले जाते हैं। इस कारण मार्चके बाद काठका यह रोजगार एकदम बन्द हो जाता है और सब मजूर तथा अन्य

कर्मचारी अपने-अपने घर लौट जाते है। जब फिर जाड़े का मौसम आता है तब सब लोग फिर कामपर चले आते हैं।

यहां यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि उस जङ्गलमें काफी खूंखार जानवर भी पाये जाते हैं जो मजूरोकी बस्तियोंपर अक्सर हमला किया करते है। मगर यह हमारे विषयकी बात नही है। हमें तो बस नेपालके जंगल तथा उसके द्वारा होनेवाले रोजगारका ही थोड़ा-बहुत वर्णन यहां करना था।

ताजे फलोंकी पैदावार

(१)

अंगूर, सेव, नाशपाती आदि ताजे फल क्या ही सुन्दर और स्वादिष्ट होते हैं! इन्हें हम पृथ्वीपरका अमृत भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। ये केवल जीभको ही संतुष्ट करनेवाले नहीं होते, बल्कि साथ ही शरीरमें भी ताजा खून और नयी शक्ति पैदा कर उसे अपने ही समान लाल बना देते हैं। मगर हमें इसका बिलकुल ही पता नहीं कि आखिर ये देव-दुर्लभ फल किस भूमिमें पैदा होते हैं और किस तरह देशके बड़े-बड़े नगरोंमें पहुंचाये जाते हैं?

अक्सर ही साधारण लोगोंके दिलोंमें उपर्युक्त वाक्य उठा करते हैं। जब वे कभी उत्सुक होकर किसीसे अपने मनकी जिज्ञासा प्रकट करते हैं तो झट या तो यह जवाब मिलता है कि "ये फल चमनसे आते हैं; या काश्मीरसे आते हैं।" परन्तु इतने-से किसीको संतोष नहीं होता। आज हम इस छोटेसे लेखमें यह बतलानेका प्रयत्न करेंगे कि ये फल वास्तवमें कहां पैदा होते हैं और किस तरह विभिन्न शहरोंकी जनताके पास पहुंचाये जाते हैं।

ताजे फलोंकी मुख्य पैदावार हिमालय पर्वतकी तराईमें होती है। इस पर्वतराजकी जिस स्वच्छ आब-हवामें मनुष्य तपस्या कर देवता बन जाते हैं, एकदम मरे हुए मनुष्यमें भी प्राणका सञ्चार करानेवाली सजीवनी बूटी जैसी असंख्य जड़ी-बूटियां दिन-रात लहराया करती हैं, लोहेको भी सोना बनानेवाले पारस जैसे पत्थर अनगिनत संख्यामें लुढ़का करते हैं, सिन्ध, ब्रह्मपुत्र, गंगा आदि सैकड़ों पतित-पावन नदियां अविरल गतिसे अपने कलकल निनाद द्वारा स्वर्गीय गान गाया करती हैं, वही आब-हवा इन अमृत-तुल्य फलोंके लिये भी उत्तम और उपयोगी समझी जाती है। इन फलोंकी पैदावारके मुख्य दो प्रांत हैं—(१) कुलू और काश्मीर और (२) अफगानिस्थानका कंदहार और इसके आस-पासके पहाड़ी स्थान। इन दो प्रान्तोंमेंसे आज हम केवल कंदहारके विषयकी ही चर्चा करेंगे।

साधारण तौरपर बलूचिस्तानके चमन शहरसे आनेवाले फलोको लोग समझते हैं कि वे चमन या उसके आसपास पैदा होते है। किन्तु वास्तविक बात यह नहीं हैं। चमनसे जो फल आते हैं वे वास्तवमें कन्दहार या उसके आस-पास पैदा होते हैं और वहांसे 'कवारों' में भरकर खच्चरोंपर लादकर चमन पहुंचाये जाते हैं। फिर चमनसे ये फल सारे भारतके बड़े-बड़े नगरों-में विक्रीके लिये भेजे जाते हैं। सन् १९२६ में पहले-पहल कन्द-हार और चमनके बीच लारियोंका आवागमन शुरू हो गया और तबसे अधिकतर फल लारियोंपर हो लाये जाते हैं। लारियोंके

आनेसे एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि जो फल पहले कन्दहारसे चमन तीन दिनमें पहुंचते थे वे अब केवल तीन-चार घण्टोंमें पहुंच जाते हैं, जिससे बिल्कुल ताजे फल बर्फसे ठण्डे किये हुए रेलगाड़ियोंके डब्बोंमें भर दिये जाते हैं और इस तरह अधिक ताजे फल लोगोंको मिलते हैं। यात्राका समय इतना अधिक कम हो जानेसे व्यापारियोंका माल भी खराब होनेका डर नहीं रहता और इस तरह बहुत बड़ी हानिके जोखिमसे वे बच जाते हैं। प्रत्येक लारीमें प्रायः ४० 'कवारे' लादे जा सकते हैं।

यहांपर यह बताना शायद अप्रासंगिक न होगा कि यह 'कवारा' क्या चीज है और कैसे बनता है। 'कवारा' एक प्रकारकी टोकरीको कहते हैं जिसकी पेंदी पतली और सिरा चौड़ा होता है। नीचे इसका फैलाव करीब १० इञ्च होता है और ऊपरी भागका प्रायः १८ इञ्च। यह प्रायः १६ इञ्च गहरी होती है। ये टोकरियां कपासके डंठलसे बनायी जाती हैं। जाड़ेके दिनोंमें अफगान औरतें ऐसी टोकरियां बनाया करती हैं। जब फलोंका मौसम आता है, तब सूखी घास—एक प्रकारकी जङ्गली सुगन्धित घासके तहोंमें फलोंको रखकर उन टोकरियोंमें पैक कर देते हैं। फलोंसे भरी प्रत्येक टोकरीका वजन लगभग ३० सेर या ६० पौंड होता है जिसमें करीब २२ सेर फल होता है। सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि यद्यपि फलोंको कंदहारसे चमन आनेमें ३ दिन लग जाते हैं और बाहर गर्मी भी खूब पड़ती है,

फल गधों और खच्चरोंकी पीठपर लादकर चमनमें लाया जा रहा है।

फिर भी जब स्टेशनपर टोकरियोंको खोलकर फलोंकी जांच की जाती है तो फल बिलकुल बर्फके समान ठंडे मालूम होते हैं।

अफगानिस्तानसे फलोंका भेजा जाना मई मासमें शुरू हो जाता है और चमनसे हर रोज रेलगाडीद्वारा विभिन्न प्रान्तोंको रवाना किया जाता है। जब अंगूर, सेव, अनार आदि फलोंका मौसम आता है तो तमाम माल रवाना करनेके लिये हर रोज एक स्पेशल रेलगाड़ी छूटने लगती है, जिसमें केवल बर्फसे ठंडे किये हुए डब्बे और 'लगेजवान' ही होते हैं। इन दिनों प्रायः ३ हजार टोकरियां रोज़ बाहर भेजी जाती हैं। ऐसी हालत करीब अगस्त महीनेसे लेकर अक्टूबर महीनेतक रहती है। इसके बाद फिर मालकी आमद कम होने लगती है और जाड़ेमें जब सूखे फलोंका मौसम आ जाता है तब बिलकुल बंद ही हो जाती है।

चमन स्टेशनकी हालत मौसमके दिनोंमें क्या होती है, अब हमें यह देखना चाहिये। सवेरे प्रायः ६ बजे दिनतक स्टेशनपर पूर्ण शान्ति रहती है; केवल दो-चार कुली रेलके डब्बोंमें बर्फ भरनेका काम जहाँ-तहाँ करते रहते हैं, ताकि शामको उनमें फल लादकर रवाना किया जा सके। उसके थोड़ी ही देर बाद दूर आसमानमें धूल छाई हुई दिखायी पड़ती है, जिससे अनुमान किया जाता है कि गदहों और खच्चरोंका काफिला आ रहा है। फिर तो देखते-ही-देखते १० से लेकर ३० तकके झुण्डमें फलोंसे लदे हुए, विभिन्न प्रकारकी अपनी-अपनी घंटियां बजाते हुए ये जानवर आ पहुंचते हैं। एक-एक खच्चरपर २ से ४ टोकरियां

लदी रहती हैं। फिर ये गरीब जानवर चुपचाप तबतक धैर्य-पूर्वक रास्ता देखा करते हैं जबतक उनका माल उतार कर स्टेशनके पास ही बने हुए फलोंके गोदाम—गंज—में रख नहीं लिया जाता। इसके बाद ज्योंही उनका बोझ उतार लिया जाता है, त्योंही वे चुपचाप स्टेशनके मैदानके बीचसे होकर एक लाइनमें शहरकी ओर चल पड़ते हैं जिससे काफिला-सरायमें जाकर उन्हें कुछ खाने-पीनेको मिले और आराम मिले। उस समय इन मूक पशुओंकी शान्ति और कर्तव्य-ज्ञान देखकर बड़ा आश्चर्य होता है तथा साथ ही उनकी दीनतापर दया भी आती है।

इस तरह काफिलोंका आना-जाना कई घण्टोंतक जारी रहता है। इस तरह मौसमके दिनोंमें प्रति दिन लगभग ३ हजार 'कवारे' भारतकी सीमा पार करके आते हैं और चमनके 'गंज'में उतारे जाते हैं। इसी बीच कई मोटर लारियां भी फलोंसे लदी हुई आ धमकती हैं और अपना माल उतार देती हैं।

कुछ घण्टे पूर्व जहां पूर्ण शांति विराज रही थी वही स्थान थोड़ी देरके लिये व्यापारका एक बहुत गर्म केन्द्र बन जाता है और व्यापारियों, कुलियों, खच्चर लादनेवालों और दर्शकोंके कोलाहलसे गूंज उठता है। किन्तु जैसे-जैसे गर्मी बढ़ने लगती है वैसे-वैसे यह कोलाहल शान्त होने लगता है और प्रायः १ बजे दिनतक वहां फिर पूर्ण शान्तिका राज्य छा जाता है। उस समय-तक प्रायः सब गदहे और खच्चर स्टेशन छोड़कर चले जाते हैं।

लेकिन यह अवस्था बहुत थोड़े समयतक ही रहती है; क्योंकि इसके बाद खरीद-बिक्रीका काम तो अभी बाकी ही रहता है।

खरीद-बिक्रीका काम तीसरे पहर लगभग ३ बजे आरम्भ होता है और फिर वही हो-हल्ला शुरू हो जाता है। व्यापारी, कुली और दर्शक एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूम-घूमकर सौदा करते या देखते हैं। बोली शुरू होनेके पहले प्रत्येक काफलेके सौदेमेंसे नियमानुसार दो टोकरियां फलोंकी हालत देखनेके लिये खोली जाती हैं और फिर बोली बोलनेवालोंके मुंहसे 'एक, दो, तीन' की आवाज सुनायी देती है। उस समय स्टेशनपर गोदाम एक खासे बाजार या मेलेका रूप धारण कर लेता है और यह व्यापार तबतक चलता रहता है जबतक स्टेशनका सारा माल बिक नहीं जाता। साधारण तौरपर शामतक खरीद-बिक्रीका काम समाप्त हो जाता है। उसके बाद व्यापारी, बोली बोलनेवाले तथा अन्य लोग जलपान आदि करनेमें लग जाते हैं और दिनभरकी थकावट दूर करते हैं। इस तरह एकबार फिर थोड़ी देरके लिये वहां पूर्ण शान्ति छा जाती है।

लगभग ६ बजे बर्फके कारखानोंसे फिर और बर्फ मंगायी जाती है और जिन डब्बोंमें सबेरे बर्फ भरी रहती है, उनमे फिर दुबारा कमी पूरा करनेके लिये बर्फ भरी जाती है। चमनमें प्रधान दो बर्फके कारखाने हैं। तत्पश्चात् साढ़े छः-सात बजे-तक डब्बोंमें लेबुल आदि लगाया जाता है। लेबुल लगनेके बाद 'कवारे' 'गञ' से उठाकर प्लेटफार्मपर लाये जाते हैं, तौले

जाते हैं, और फिर स्थानके अनुसार छांट-छांट कर क्रमसे रखे जाते हैं। इस बीच 'स्पेशल फ्रूट ट्रेन' तैयार होकर प्लेटफार्म-पर आ लगती है। फिर प्रायः बारह एक बजे राततक तमाम माल डब्बोंमें लादा जाता है। इस बीच थोड़ी देर फिर काफी चहल-पहल रहती है। फिर माल लद जानेके बाद रेलगाड़ी कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, आगरा, लाहौर, कराची तथा अन्य कई नगरोंके लिये माल लेकर अपनी यात्राके लिये रवाना हो जाती है।
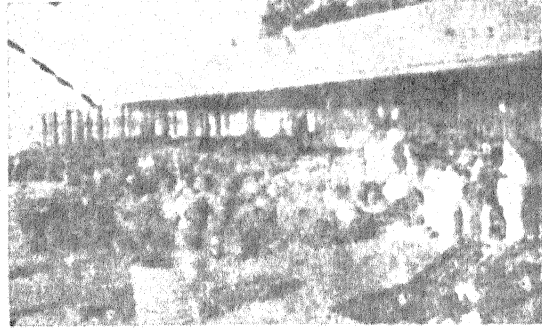
गोदाममें फलकी टोकरियां बिक्रीके लिये रखी गई हैं।

रेलगाड़ीपर लादनेके पहले फलकी टोकरियां तौली जा रही हैं।

ताजे फलोंकी पैदावार (२)

[२]

पिछले लेखमें हमने बताया था कि, पर्वतराज हिमालयकी आबहवा ताजे फलोंके लिये बहुत ही उपयोगी है। यद्यपि आज-कल भी वहाँ किसी वैज्ञानिक ढंगसे फलोंकी खेती नहीं की जाती, फिर भी इतना अधिक फल पैदा होता है कि वहांसे हर साल भारतवर्षके कोने-कोनेमें फल भेजा जाता है। प्रधानतः फलोंके बगीचे कुलू और काश्मीरमें ही हैं। किन्तु हिमालयकी तराईमें अभी भी बहुत अधिक जमीन खाली पड़ी है, जहां फलोंके बगीचे लगाये जा सकते हैं और काफी पैदावार हो सकती है।

काश्मीर विशेषतः सेब, नाशपाती और अखरोट आदिके लिये मशहूर है। शतालू, बेर आदि भी काफी मात्रामें पैदा होते हैं और वहींके लोगोंमें उनकी खपत भी हो जाती है।

कुलूकी सुहावनी तराई शिमला और काश्मीरके बीचमें पड़ती है और बिलकुल तिब्बतकी सीमापर हैं। इस भूभागसे होकर ही पंजाबकी व्यास नदी आती है। यहांका प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुन्दर है। इस मनोरम स्थानके फल भी बड़े

सुन्दर और स्वादिष्ट होते हैं। यही कारण है कि भारतमें वहांके फलोंकी अच्छी ख्याति है।

भारत-भूमिपर बहुत-से स्थान आज ऐसे वर्तमान हैं, जो हमारी अज्ञानताके कारण पहले बिलकुल वीरान थे और जिनकी उपयोगिताका हमें पता ही नहीं था। लेकिन पीछे उन्हीं स्थानोंको विदेशियोंने आकर बेमोल खरीद लिया और उससे बेशुमार लाभ उठाया। यही हालत कुल्लू तराईकी भी समझिये। इसका भी मूल्य भारतवासियोंको पहले नहीं मालूम था। केप्टन ली नामक एक अङ्गरेज अफसर जब भारतीय सैनिक विभागसे 'रिटायर' हुए तो उन्हें इस स्वर्गीय भूमिसे अलग होने बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सोचा, इसी देशमें कहीं कोई ऐसा जोगाड़ लगाया जाय जिससे आखिरी जिन्दगी भी आराममें ही कट जाय। परिश्रमका फल मीठा तो होता ही है। बिचारेको बड़ी दौड़-धूप करनेके बाद इस तराईका पता चला। उन्होंने अपने किसी पुराने अनुभवके आधारपर ताड़ा कि यहां शायद फलोंकी पैदावार अच्छी हो सकती है। चट, उन्होंने फलोंके पौदे मंगाने शुरू किये और सन् १८६४ में बन्द्रोल बगीचेकी नींव डाली। वह बगीचा आज भी मौजूद है और वहांके मुख्य-मुख्य बगीचोंमें उसकी गिनती है। फिर तो उसके बाद सारी तराईमें धीरे-धीरे बहुतसे बगीचे लग गये और वह स्थान व्यापारिक दृष्टिसे बड़ा महत्वपूर्ण हो गया। कुछ दिन पूर्व जो तराई सूनसान पड़ी थी, आज वहां असंख्य लोगोंका दिन-रात कोलाहल जारी रहता है।

वहांपर फलोंकी पैदावारका वही पुराना ढंग है। किन्तु बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंका कहना है कि यदि आधुनिक वैज्ञानिक उपायोंका उपयोग किया जाय तो आजसे कई गुना अधिक पैदावार बढ़ जाय और आज जो फल सड़-गलकर नष्ट हो जाते हैं, उनका भो उपयोग हो जाय। लेकिन इस ओर अभी वहांके बगीचोके मालिकोंका बिलकुल ध्यान नहीं है। वे लोग अपनी पुरानी परिपाटी छोड़ना पसन्द नहीं करते हैं।

कुलूमें मजदूरी सस्ती है, लेकिन आवागमनका खर्च बहुत अधिक है। कुलू तराईसे सबसे नजदीकके रेलवे स्टेशनतक आनेका केवल एक ही मार्ग है और वह मंडी स्टेटसे होकर आता है। कहते हैं, मोटर लारियोंपर उस स्टेटकी ओरसे कुछ अधिक कर लगाया गया है। फिर कुलूसे रेलवे लाइन लगभग १०० मील दूर है भी। अकसर जब फलोंका मौसम आता है तब पहाड़ोपर पानी भी बरसने लगता है, जिससे सड़क डूब जाती है। इन्हीं सब कारणोसे व्यापारियोंको बहुत असुविधा उठानी पड़ती है और खर्च भी अधिक हो जाता है।

बगीचोंको कभी-कभी एक दूसरी आफतका भी मुकाबला करना पड़ता है। ठीक फलोंके तैयार होनेके ही मौकेपर बहुत बड़ी संख्यामें कीड़े-मकोड़े आ जाते हैं जो फलोको खा जाते हैं और इस तरह बगीचोंको बहुत अधिक धक्का पहुंचता है। इन कीड़ोंसे रक्षा करनेके लिये दिन-रात रखवाली करनी पड़ती है और उन्हें मारकर फलोंकी रक्षा की जाती है। इसके अतिरिक्त

भारतकी अन्य चीजोंकी खेतीके समान इसमें भी प्रकृतिकी चोटोंका तो मुकाबला करना ही पड़ता है। ओले पड़ने या मौसमके खराब हो जानेपर भी काफी हानि उठानी पड़ती है।

साधारण तौरपर सेव, नाशपाती वगैरह फल जुलाई-अगस्तमें तोड़नेके योग्य हो जाते हैं और कुछ दूसरे फल सितम्बरमें तैयार होते हैं। जब अधिक तायदादमें फल भेजे जाते हैं तब तो वे बक्सोंमें भरे जाते हैं और नहीं तो टोकरियोंमें पैक किये जाते हैं। अधिकांश फल जो टोकरियोंमें भरे जाते हैं, पोस्टसे बाहर भेजेजाते हैं।

वहां बगीचोंकी ओरसे ही टोकरी या बक्स तैयार किये जाते हैं। इसके लिये उन्होंने टोकरी बनानेवालों, लुहारों और बढ़इयोंको नौकर रख लिया है। कितने बगीचोंके तो अपने पोस्ट आफिस भी हैं। एक-दो बगीचोंने अपनी लारियां भी रख ली हैं, मगर बाकी बगीचे पोस्ट आफिसपर ही निर्भर करते हैं।

कुलूके अधिकांश बगीचोंमें औरतें ही अधिक संख्यामें काम करती हैं। ये औरतें बहुत हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर होती हैं और मर्दोंकी अपेक्षा अधिक मात्रामें और अधिक सुन्दरताके साथ काम करती हैं।

बगीचोंके लिये हर साल इङ्गलेण्ड, आस्ट्रेलिया और जापान आदि देशोंसे नये-नये फलोंके पेड़ मंगाये जाते हैं। फरवरी और मार्चमें अधिकतर कलम लगाये जाते हैं। बहुतसे बगीचोंमें आधेसे अधिक पेड़ोंके फूल तोड़ डाले जाते हैं, जिससे अगले

पेड़ोंसे फल तोड़े जा रहे हैं।

कुली पेड़ोंसे गोदाममें फल ले आ रहे हैं।

साल उनमें अधिक फल लगें। फरवरी मासमें सब पेड़ोंपर एक प्रकारकी दवा छिड़क दी जाती है ताकि उन्हें कीड़े न खा जायँ और कोई दूसरी बीमारी न हो। मार्च महीनेमें खाद डाली जाती है। बगीचोंमें सोहनीका काम तो सालमें कई बार होता है। जून और जुलाईमें बगीचोंके क्लर्क विज्ञापनबाजीमें लगे रहते है। जाड़ेमें पेड़ छांटे जाते हैं और दिसम्बरमें पेड़ोंके चारों ओरकी जमीन खोदकर जड़ें खुली कर दी जाती हैं।

जो बड़े-बड़े बगीचे हैं और जिनका प्रबन्ध ठीक है, उनमें सालभर कुछ-न-कुछ काम हुआ ही करता है। मगर जोर-शोरसे काम चलता है मौसम आनेपर ही। कुलियोंका एक तांता तो फलोंके गोदामसे लेकर पेड़ोतक बँधा रहता है और दूसरा गोदामसे पोस्ट आफिस या लारियोंतक। क्लर्क लोग फलोको बाहर भेजनेके प्रबन्धमें मशगूल रहते हैं और बढ़ई आदि बक्स बनाने, गोदाम या अन्य घरोंकी मरम्मत करनेमें लगे रहते हैं।

फल जब पेड़ोंपर तैयार हो जाते हैं तो तोड़नेवाले सीढ़ी ले जाकर पेड़ोंपर लगा देते हैं और उसीपर चढ़कर बड़ी सावधानी से एक-एक फल तोड़ते हैं। इस बातका बड़ा ख्याल रखा जाता है कि कोई फल नीचे न गिरे। फिर उन्हें चौड़ी टोकरियोंमे रखकर कुली गोदाममें ले जाते हैं। यहां अच्छे-अच्छे फलोंका चुनाव होता है और उन्हें अलग-अलग रखकर पैकिंगके लिये भेज देते हैं। पहले प्रत्येक फलको कागजमें लपेटते हैं और फिर घासकी तहमें रखकर उन्हें सावधानीसे पैक करते हैं। फिर

टोकरी तौली जाती है और उसका मुंह बन्द कर, लेबुल चिपका कर पोस्ट आफिस भेज देते हैं।

वहांके कामका साधारण ढंग यही है। यों तो प्रत्येक बगीचेमें अपने-अपने ढंगसे ही काम होता है। हां, जिन बगीचों-में काम तरीकेसे होता है और जहांका प्रबन्ध ठीक है वहांके फल अधिक अच्छे होते हैं, काममें भी सहूलियत होती है। मगर जहांपर मनमाना बिना तरीके काम होता है, वहांका माल भी वाहियात होता है और काममें भी दिक्कत होती है। जैसे, कुछ बगीचोंमें हाथसे फल तोड़नेके बजाय पेड़ जोरसे हिला दिये जाते हैं और जब सब फल नीचे गिर जाते हैं तो उन्हें उठा लेते हैं। ऐसा करनेसे बहुतसे फल टूट जाते हैं या चोट लगने-से खराब हो जाते हैं। कुछ बगीचे देखनेमें बगीचे मालूम ही नहीं होते, बल्कि जंगल मालूम होते हैं। ऐसे बगीचोंमें रहना भी कष्टकर होता है और काम भी जैसा-तैसा ही होता है।

रबरकी पैदावार
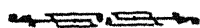
रबरकी पैदावार मुख्यतः लंका टापूमें होती है। किन्तु रबर लङ्काकी अपनी चीज नहीं है। रबरके पेड़ वहां दूसरी जगहसे लाये गये थे और वहांकी भूमि और जलवायु अनुकूल होनेके कारण पीछे रबरके बहुत बड़े-बड़े जङ्गल तैयार हो गये। इस पैदावारसे लङ्काकी बहुतसी जमीन, जो पहले बेकार समझी जाती थी, आबाद हो गयी और लाखों करोड़ों मनुष्योंको रोज-गार मिल गया।

रबर लङ्कामें कैसे और कहांसे आया, इसका इतिहास देना शायद अप्रासंगिक न होगा। जब सबसे पहले संसारको दक्षिण अमेरिकाका पता लगा तो लोगोंने वहांके आदिम निवासियोंको एक प्रकारके जङ्गली पेड़ोंसे कोई चीज निकालते हुए देखा जिसे वे लोग गेन्दकी तरह गोल बना लेते थे और जब कभी वह गेन्द जमीनपर गिर पड़ती थी तो उछलने लगती थी। किन्तु १६ वीं शताब्दीतक लोगोंको यह पता न था कि यह चीज व्यापारकी दृष्टिसे भी बहुत कुछ महत्व रखती है। सन् १८७० के लगभग इण्डिया आफिसके सर क्लेमेण्ट्स मारखमने दक्षिण अफ्रिकाके रबरके पेड़ोंको पूर्वके ब्रिटिश उपनिवेशोंमें ले जानेका प्रयत्न

करना आरम्भ किया। इस काममें उन्हें कई कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। इसलिये उन्होंने क्यूके बोटेनिकल गार्डनके डाइरेक्टरसे सहायता मांगी। इस काममें सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि उन दिनों जहाजोंके आने-जानेका कुछ ठीक नहीं रहता था और इस तरह बीज सूखकर बेकाम हो जाते थे। जरूरत इस बात की थी कि किसी तरह बीज इतनी जल्द पहुंच जायं कि वे सूखें नहीं और अंकुरित हो सकें।

सबसे पहला प्रयत्न जो बीज इङ्गलैण्ड लानेके लिये किया गया, वह असफल रहा। रबरके बीज सालके कुछ खास महीनोंमें ही मिल सकते थे। मि॰ हेनरी विकहमको, जो उन दिनों दक्षिण अमेरिकामें ही रहते थे, लिखा गया कि वह अमेजन नदीकी घाटीमें जाकर बीज प्राप्त करनेकी चेष्टा करें। जब वह वहां गये तो उन्हें मालूम हुआ कि वह बेमौके चले हैं। अभी उसके अनुकूल मौसम नहीं। निदान वह लौट आये और फिर मौसम आनेपर वहां गये। आखिर बहुत खोज करनेके बाद कुछ उम्दा बीज उन्हें प्राप्त हुए और वह उसे समुद्र किनारे ले आये। सौभाग्यवश किनारेपर उन्हें तुरत एक जहाज मिला जो यात्रा करनेके लिये तैयार ही था। उन्होंने उसी जहाजसे बीज रवाना किया और वह खूब सुरक्षित अवस्थामें क्यू पहुंच गया।

कुल लगभग ७० हजार बीज बोये गये, जिनमें करीब २७ हजार अंकुरित हुए। इन तमाम पौधोंको लङ्का भेजा गया और सर्वप्रथम सन् १८७६ में हेविया ब्रेजिलियनसिस जातिके पौदे

हेनरतगोदाके बोटेनिकल गार्डेनमें लगाये गये। इन पौदोंने वहां खूब अच्छी तरह उन्नति की। इससे पहले लङ्कामें कुछ लोगोंने 'केस्टिलोवा' या मेक्सिकन रबरके पेड़ लगाये थे, मगर इस प्रकारके वृक्षोंमें एक दोष यह था कि उनके दूधमें रबरका गुण वर्षके कुछ विशेष महीनोमे ही पाया जाता था। अतएव उसकी पैदावारकी ओर लोगोंका विशेष झुकाव न हो सका। इसके बाद 'केमरा रबर' की भी आजमाइश की गयी थी और उसके जल्द तैयार होनेके गुणने लोगोंको अपनी ओर आकर्षित किया था। मगर 'केमरा' रबर २ हजार फीट या उससे भी अधिक ऊंचाईपर ही पैदा हो सकता है। इससे नीचेकी जमीन तो उन दिनों दलदली और बुखारका घर समझी जाती थी। लोगोंकी दृष्टिमे उस जमीनका उपयोग करना आकाश-कुसुमके ही समान था। किन्तु 'हेविया' जातिके रबरने लोगोकी धारणा ही बदल दी। वास्तवमे 'हेविया' रबरकी आरम्भिक जन्मभूमि दक्षिण अमेरिकाका ब्रेजील प्रान्त है और वहांकी आबहवा प्रायः लंकासे मिलती-जुलती है। ये वृक्ष प्रायः ४-५ वर्षमें तैयार हो गये और जब इनके दूधसे प्रयोग किये गये तो मालूम हुआ कि इससे पैदा हुआ रबर अन्य दोनों जातियोंसे बहुत बढ़िया है।

इस प्रयोगके बाद तो फिर काफी तादादमे बीज मंगाये गये और इस प्रयोगके फलस्वरूप कितने ही लोगोंको इन्हें लगानेका लालच हुआ। तबसे अबतक लगभग ५० वर्षोंके बीच पूर्वके कई देशोंमें हजारों एकड़ जामीनमें इस जातिका रबर लगाया जा

चुका है। इस जातिके रबरके जंगल लङ्काके दक्षिण-पश्चिम भागमें अधिक संख्यामें हैं।

लङ्कामें कुछ दिन पहले काफीकी खेती करनेपर पैदावारमें कुछ ऐसे रोग पैदा हो गये थे, जिन्हें दूर करनेमें किसान असमर्थ हो गये थे और उन्हें बहुत नुकसान उठाना पड़ा था। इस उदाहरणसे सबक लेकर रबरकी खेती करनेवालोंने आरम्भमें ही कुछ वैज्ञानिकोंको नियुक्त किया और उनकी सहायतासे पेड़ लगानेका सबसे बढ़िया तरीका तथा रोगोंसे रक्षा करनेका उपाय समझ लिया। यह बात अब साबित हो चुकी है कि रबर उष्ण-प्रदेशमें पैदा हो सकता है जहांकी आबहवा कुछ तर हो और जहां प्रति साल १५० से लेकर १७५ इञ्चतक पानी बरसता हो। स्थानकी ऊंचाई समुद्रकी सतहसे १ हजार फीट होनी चाहिये, यद्यपि यह २ हजार फीटकी ऊंचाईपर भी पैदा होता है।

रबरका जो वृक्ष काफी तैयार हो जाता है उसकी ऊंचाई लगभग ८० फीट होती है। जड़ों और शाखाओंके फैलावका ख्याल कर यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि पेड़ोंकी एक निश्चित संख्या ही खेतोंमें लगायी जाती होगी। आरम्भमें एक एकड़ जमीनमें प्रायः ४३५ पेड़ लगाये जाते थे; किन्तु अनुभवसे यह बात मालूम हुई है कि पेड़ोंकी खासी उन्नति तभी हो सकती है जब उसकी चौथाई संख्यामें ही पेड़ लगाये जायं। मगर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सबसे बड़े या सबसे मोटे वृक्षके ही दूधसे बहुत बढ़िया रबर तैयार होता है।

रबरके लिये सबसे उपयुक्त जमीन वह समझी जाती है, जहां खूब घना जङ्गल लगा हो, यद्यपि इस भूमिमें एक डर रहता है। जङ्गलमें जो काठ सूखा या सड़ा-गला होता है उसमें जो पौदोंके लिये हानिकारक बीमारियां होती हैं वे पीछे रबरमें भी आ जाती हैं। किन्तु इसके लिये सावधानी रखनेसे काम चल जाता है। जङ्गल साधारण तौरपर बरसात खतम होनेपर काटा जाता है। यह काम लङ्काकी देहाती जनता—सिंघालियनोंको सौंपा जाता है। जब पेड़ गिर जाते हैं तब कुछ दिन वे लोग ठहर जाते हैं। किन्तु इस ठहरनेका कारण यह नहीं है कि लकड़ी सूख जाय बलिक कुछ अन्धविश्वासोंके कारण वे लोग इस बातकी प्रतिक्षा करते हैं कि चंद्रमा शुभ रूप धारण करले और कोई शुभ दिन मिले जिस दिन जङ्गलमें आग लगानेसे सारा जङ्गल अच्छी तरह जल जाय। आग खास तौरपर दिनके सबसे गर्म समयमें—प्रायः १२ बजे और २ बजेके बीचमें लगायी जाती है।ज्यों-ज्यों आग पकड़ती जाती है, जोरका धुंआ और उसके पीछे लम्बी-लम्बी लहरें उठने लगती हैं, त्यों-त्यों खुशीके मारे कुली चिल्लाने लगते हैं। उस समय लकड़ियोंके कड़कड़ाने और इन कुलियोंके चिल्लानेसे वहांका दृश्य बड़ा भयानक मालूम होता है।

कुछ दिनोंके बाद जब सारा जङ्गल जलकर खाक हो जाता है और जमीन इतनी ठंडी हो जाती है कि उसमें कुली जा सकें तब बड़े-बड़े लकड़ीके कुन्दे तथा झाड़-पात जो जलनेसे बच जाते हैं, उन्हें कुली इकट्ठा कर देते हैं और फिर उसमें आग लगाते हैं।

इस तरह सारा जङ्गल साफ कर दिया जाता है। इससे काफी मात्रामें पोटास भी प्राप्त हो जाती है। जङ्गल साफ हो जानेपर उस भूमिमें रास्ते बनाये जाते हैं। इन रास्तोंमें शायद ही कोई ऐसा रास्ता हो जिसके बनानेमें डाइनामाइटका व्यवहार न करना पड़ता हो। क्योंकि जितनी भी अच्छी भूमि रबरके लिये होगी उसमें एक प्रकारके काले पत्थर जरूर मिलेंगे और उन्हें तोड़ना इस तरह आसान नहीं।

सड़कें बनानेके साथ-ही-साथ खेतोंमें २० से लेकर ३० फोट-तकके फासलेपर नालियां भी बनायी जाती हैं, जिनमें बरसातका पानी जमा हो जाय। रबरकी खेतीके लिये यह काम भी बहुत आवश्यक है; क्योंकि वहां प्रायः हर समय घंटेमें २-३ इंचके हिसाबसे पानी बरसा करता है। अगर खेतोंके चारों ओर मजबूत मेंड न बनाये जायं और नालियां न हों तो सब मिट्टी धुलकर पहाड़ोंकी तराईमें चली जाय और खेती होना असंभव हो जाय। जङ्गलकी हालतमें निश्चय ही ये मेंड और नालियां नहीं होतीं, किन्तु उस समय जङ्गलके पेड़ोंकी घनी पत्तियां तथा झाड़ियां मिट्टीकी रक्षा करती हैं।

जबतक सड़कों और नालियोंके बननेका काम जारी रहता है तबतक किसान यह निश्चित करते रहते हैं कि रबरके पेड़ लगाये कैसे जायं। कतार पूर्वसे पश्चिम रखी जाय या उत्तरसे दक्खिन, अथवा खेतकी परिधिके अनुसर गोलाईमें पेड़ लगाये जायँ। पहलेके दो तरीकोंमें पूर्वसे पश्चिम कतार रखना उत्तम

समझा जाता है, क्योंकि इससे सूर्यकी रोशनी अधिक-से-अधिक दो कतारोंके बीचमें पहुंचती है। किन्तु तीसरे तरीकेमें एक दूसरा लाभ होता है। उससे बड़ी आसानीसे खेतकी मिट्टी और उसके हाल (तरी) की रक्षा हो जाती है और बहुत बखेड़ेसे अनायास पिण्ड छूट जाता है।

इसके बाद पौदे लगानेका समय आता है। इसके लिये दो तरीके हैं। या तो खेतमें ही अंकुरित बीज लगाते हैं या साल-डेढ़ सालके पौदे लगाते हैं। ये पौदे किसी खास स्थानमें पहलेसे लगा दिये गये रहते हैं, और पीछे उखाड़कर खेतमें लगाते हैं। पौदे लगानेके लिये खेतमें जगह-जगहपर करीब ढाई फीट लम्बे चौड़े और गहरे गढ़े खोदते हैं। फिर आसपासकी कुछ बढ़िया मिट्टी लेकर उसमें थोड़ी राख मिला देते हैं और उसको गढ़ोमें भर देते हैं। इसके बाद इस नयी मिट्टीमें दो या तीन अंकुरित बीज या एक पौदा गाड़ देते हैं। पौदे लगानेका काम बरसातमें किया जाता है। उस समय खेतोंमें केवल रबरके ही पेड़ नहीं लगाये जाते; बल्कि साथ ही कुछ छाया करनेवाले पेड़ और कई तरहके घास-पात भी लगाते हैं जो पीछे खादका काम करें और मिट्टीकी रक्षा भी करें।

पुराने समयमें रबरके पेड़ पांच बरसकी अवस्थामें ही तैयार समझे जाने लगते थे और उनका दूध निकालना शुरू कर दिया जाता था। किन्तु अब उत्तम यह समझा जाता है कि उन्हें ७ से लेकर १० वषतककी अवस्थातक बिलकुल न छेड़ा जाय। इस

अर्सेमें प्रायः पेड़का तना जमीनसे २ फीटकी ऊंचाईपर करीब २४ इञ्च मोटा हो जाता है। दूध निकालनेका तरीका भिन्न-भिन्न है; किन्तु उत्तम यह समझा जाता है कि २२॥ डिग्रीका कोण बनाते हुए आधी गोलाई में पेड़के ऊपरी छिलकेको काट दिया जाय। एक दिनके अन्तरसे दूध निकालनेवाला कुली खूब सबेरे एक चाकू लेकर आता है और पेड़के तनेमें ऊपर बताये हुए तरीकेसे लकीर बना देता है। लकीरके अन्तमें एक नारियलके छिलकेका आधा टुकड़ा इस तरह रख दिया जाता है जिससे सब दूध बहकर उसमें एकत्र हो जाय। तनेकी ऊपरी सतहपर ही छूरीसे काटते हैं। भीतरी भाग कट जानेसे पेड़को हानि पहुंचती है। इस तरह एक बार काटनेपर प्रायः ४ घण्टेतक दूध निकलता है और प्रायः नारियलका वह टुकड़ा दूधसे भर जाता है। फिर कुली आता है और दूध एक बर्तनमें इकट्ठा करके कार-खानेमें ले जाता है। इस तरह एक कुली प्रायः दो सौ पेड़ोंका दूध निकालता है। मौसमके दिनोंमें एक कुली जितना दिनभरमें दूध इकट्ठा करता है उससे करीब दस पौंड रबर तैयार होता है।

दूध कारखानेमें आनेपर बाल्टियोंमेंसे हरे मिट्टीके घड़ेमें उंडेल दिया जाता है और फिर उसमें सोडियम बाइसलफेट नामक एक रासायनिक द्रव्य मिला दिया जाता है जिससे उसकी सफेदी दूर न हो। इसके बाद फिर उसे जमानेके लिये उसमें दूसरा द्रव्य एसेटिक एसिड डालते हैं। इस तरह दूसरे दिन यह तैयार हो जाता है। फिर घड़ेमेंसे इसका थोड़ा-थोड़ा टुकड़ा

भारतकी उपज

एक औरत कुली रबरके पेड़से काटकर
दूध निकाल रही है।

बायीं ओर दो आदमी सूखे हुए दूधको रोलरसे दबा रहे हैं।
दाहिनी ओर थालियोंमें दूध जमाया जा रहा है

काटकर निकाल लेते हैं। 'क्रेप' के रूपमें जो बाजारमें चीज दिखायी देती है वह यही जमाया हुआ रबर होता है। मगर जो काली चादर होती है, उसे दूसरे ढंगसे बनाते हैं। इसके लिये दूध घड़े के बजाय छिछली तश्तरियोंमें ढाला जाता है। जब यह जम जाता है तब इस सफेद चीजको आलमोनियमके टेबुलपर निकाल लेते हैं और आवश्यकतानुसार उसे टुकड़े-टुकड़े काट देते हैं। फिर उन टुकड़ोंको 'रोलर'के नीचे दबाते हैं जिससे उनपर कई आकार-प्रकारकी मुहरें लग जाती हैं। इसके बाद इन टुकड़ोंको धुआंघरमें ले जाकर रखते हैं। धुआं-घरमें कई मचानें बनी होती हैं, जिनके नीचे आग रखी रहती है। इसमें जङ्गलके पुराने पेड़ काटकर जलाये जाते हैं, किन्तु लहर नहीं निकलने दी जाती। केवल धुआं निकलता है। इस धुएंसे सफेद रबर काला या भूरा हो जाता है। इस परिवर्तनमें प्रायः सात दिनका समय लगता है और आग रोज २४ घंटे जला करती है। धुआं-घरसे उठाकर रबर पैड्किंग घरमें ले जाते हैं और वहां जांच करके पैक किया जाता है।

घड़ेमें जो रबर जमाया जाता है, वह बिलकुल दूसरी क्रिया द्वारा बनाया जाता है। उसे 'रोलर' या धोनेवाली मिलमें ले जाते हैं जहां इसमें जो कुछ गन्दी चीजें रहती हैं, वे साफ हो जाती हैं और रबर पतला हो जाता है। फिर उसे हवामें सुखाते हैं। जब रबर तैयार हो जाता है तब उसे बक्सोंमें पैक कर देते हैं। एक बक्समें प्रायः १५ पौंड रबर रहता है।

रबरकी उपज और उससे बननेवाली चीजोंका रोजगार खूब मजेमें चल रहा है; किन्तु फिर भी उपज बढ़ाने और नयी चीजोंके बनानेका प्रयत्न निरन्तर जारी है। वैज्ञानिकोंने कलम लगाकर यह तो दिखला दिया है कि एक पेड़से जहां पहले सालमें ५ पौंड रबर निकलता था वहां अब २० पौंडतक निकलता है। विज्ञानके सहारे जो न हो जाय वह थोड़ा ही है।

यूक्लिप्टसकी उपज

अङ्गरेजोंके भारतवर्षमें आनेके समयसे इस देशमें बहुतसे विदेशीय उद्भिजोंका आविर्भाव हुआ है। उन उद्भिज पदार्थोंमें बहुतसे देशके लिये हितकर और बहुतसे अहितकर भी सिद्ध हुए हैं। यूक्लिप्टसके आविर्भावसे हिन्दुस्तानीके बहुतसे जगहोंपर यथेष्ठ मंगलकी साधना हुई है। यूक्लिप्टसका आदिम बास आस्ट्रेलिया है। किन्तु आजकल यह संसारके अनेक प्रान्तोंमें व्याप्त है। दक्षिण फ्रांस, इटली, स्पेन, पुर्तगाल, केलिफोर्निया क्लोरिडा, मेक्सिको, अल जियर्स, मिश्र, ट्रांसवाल और दक्षिण एशियामें नाना स्थलोंपर यूक्लिप्टसकी पैदावार होती है। इसकी ३०० जातियां होती हैं। जलवायु और मिट्टीके भेदानुसार विभिन्न जातियोंकी उत्पत्ति होती है। यूक्लिप्टसकी इस प्रकार अवस्थानुसार परिवर्तनकी क्षमता केकारण ही यह भिन्न भिन्न देशोंमें पाया जाता है। भारतवर्षमें इसका आगमन १०० वर्षके आस-पास हुआ। उटकमंड और सहारनपुरमें कई एक यूक्लि-प्टसके गांछ परीक्षाके लिये लगाये गये। इन केन्द्रोंमें सफलता मिलनेपर धीरे धीरे दक्षिण प्रदेश, पंजाब, युक्तप्रदेश आदि प्रान्तोंमें इसका प्रसार हुआ। शिवपुरके उद्भिज-उद्यानसे बीज और चाराको लेकर बंगाल, बिहार और आसामके लोग भी अपने-अपने बाग-

बगीचोंमें इस उपयोगी पौधेको आबाद किये। यूक्लिप्टस यों तो आज-कल सारे भारतवर्षमें होता है किन्तु वैज्ञानिकोंका कहना है कि नीलगिरि ही हिन्दुस्तानमें युक्लिप्टसके लिये सबसे उपयुक्त स्थान है। नीलगिरिमें अङ्गरेजोंने युक्लिप्टसकी उपज अपने हाथोंमें कर रखी है। वे वहां इतनी प्रचुरता और लगनसे इसकी पैदावार करते हैं कि यूक्लिप्टसके तेलका एक अलग व्यवसाय ही नीलगिरिसे चल निकला है।

यूक्लिप्टसका स्वास्थ्यके साथ बहुत सम्बन्ध है। मलेरिया-के लिये तो यह रामबाणका काम करता है। जिन प्रान्तोंमें मलेरियाका प्रकोप होता है वहां इसका पेड़ लगा देनेसे मलेरि-याका प्रकोप शान्त हो जाता है। इसमें पानी सोखनेकी अजीब शक्ति होती है, अलजियर्समें यूक्लिप्टस रोपनेका प्रत्यक्ष फल देखा गया है। इसके रोपे जानेके थोड़े ही दिन बाद अलजियर्सके बहुतसे रोग दूर हो गये।

आष्ट्रेलियामें यूक्लिप्टसका प्रयोग साधारण लकड़ीके कामकी तरह होता है। इसमें और वृक्षोंकी अपेक्षा शाखा-प्रशाखायें कम होती हैं। इसलिये इसकी लकडीका मूल्य भी ज्यादा होता है। आष्ट्रेलियाके जंगलोंमें १५० फीट लम्बे और १० फीटघेरेवाले बहुतसे पेड़ पाये जाते हैं। इसकी लकड़ीसे जहाज बनाये जाते, घर छाये जाते, बेड़ा और पुल तैयारी किये जाते टेलीग्राफके खंभे बनाये जाते, रेलके स्लीपर बनाये जाते, गाड़ीके पहिये और घरकी अन्य आवश्यक वस्तुएं बनाई जाती हैं। इस देशमें जाड़ा

(Jarrah wood) नामक काठ जो प्रचुर परिमाणमें बाहरसे आता है वह पश्चिम आष्ट्रेलियाके यूक्लिप्टसकी होता है।

भारतवर्षमें भी यूक्लिप्टसकी कई उपजातियां होती हैं। उनमें globulus और Citriodora मुख्य हैं। तेल निकालनेके लिये globulus सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु इसकी पैदावारके लिये सभी स्थान उपयुक्त नहीं हैं। नीलगिरि ऐसे प्रांतोंमें ही इसकी उपज अच्छी हो सकती है। Citriodora की उपज globulus की अपेक्षा अधिक होती है। इसकी उपज पहाड़ और समतल भूमिपर भी होती है। Rostrata और Tereticornis जातिके पौधे बहुत बड़े बड़े होते हैं। इसकी उपज युक्तप्रान्त और पञ्जाबमें होती है। सड़कोंके किनारे और बगीचोंके इर्द-गिर्द इसके पेड़ बहुधा लगाये जाते है। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों और उनकी तराइयोंमें albius और Microrrhynchus जातिके पेड़ आसानीसे लग जाते हैं। मध्यप्रदेश ऐसे ऊंचे और शुष्क स्थानोंपर dumosa नामक यूक्लिप्टसकी उपजाति उत्पन्न होती है। इसका भी तेल उत्कृष्ट श्रेणीका होता है। दक्षिण बंगाल आसाम पूर्वी और पश्चिमी घाट ऐसे आर्द्र और गर्म स्थानोंमें Macurthurii, Patentinervis एवं rousti आदि जातियोंके पेड़ रोपनेसे उत्कृष्ट पैदावार होती है। पश्चिम बंगालमें उईके प्रकोपसे किसी क़िस्मका यूक्लिप्टस नहीं होता। ऐसे स्थानोंमें microcorys जातिकी खेतीकी जा सकती है। यह बहुत अंशोंमें उईके प्रकोपको सह सकता है।

यूक्लिप्सटके पौधे बड़े ही कष्ट सहिष्णु होते हैं। किन्तु रोपने पर २, ४ वर्षतक गाँछपर विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। बीज बोनेके पहले इसके लिये मिट्टी तयार करनी पड़ती है। मिट्टीमें काठकी बुकनी मिलाकर उसमें बीज बोते हैं। बीज बो कर ऊपरसे एक इञ्च मिट्टी दे दी जाती है। बीज बोनेके पहले और बादको भी दोपहरके बाद उचित परिमाणमें पानी देना जरूरी होता है। अङ्कुर उग जानेपर पानी देना कम कर देना चाहिये। जब पौधे ६ या ८ इञ्चके हो जायँ तो उन्हें दूसरी जगह रोपना चाहिये। अत्यधिक गर्मी और वर्षाको बचाकर बाकी समयमें बोनेसे आदमी अवश्य कृतकार्य होता है। गाँछ रोपनेपर एक दो वर्षतक उसकी रखवाली करनी चाहिये। बादको बढ़ जानेपर उसकी हानिकी कम आशंका रह जाती है।

यूक्लिप्टसके ३०० जातियोंमें केवल २५ ही जातियां ऐसी हैं जिनसे तेल निकाला जा सकता है। भारतवर्षमें अनेक स्थानों पर यूक्लिप्टसके पेड़ देखनेमें आते हैं किन्तु एक नीलगिरि ही ऐसा स्थान है जहां वर्तमान समयमें व्यवसायिक रूपसे तेल निकाला जाता है। वहां १० हजार बीघासे अधिक तेल निकाले जानेवाले यूक्लिप्टस पेड़के बगीचे हैं। यूक्लिप्ट्सकी सभी जातियोंके तेल एकसे नहीं होते। वर्ण, गन्ध और गुणके अनुसार उनमें काफी पार्थक्य होता है। किन्तु स्थूलतः उनमें दो श्रेणियां हैं। उन तेलोंके प्रथम श्रेणीका Phellandrene प्रधान उपादान है इससे Eannygdalina तेल तैयार होता है। दूसरी

यूकिलप्टसका बागीचा, दाहिने छः वर्ष और बायें दो वर्षके यूकिलप्टसके पेड़ हैं।
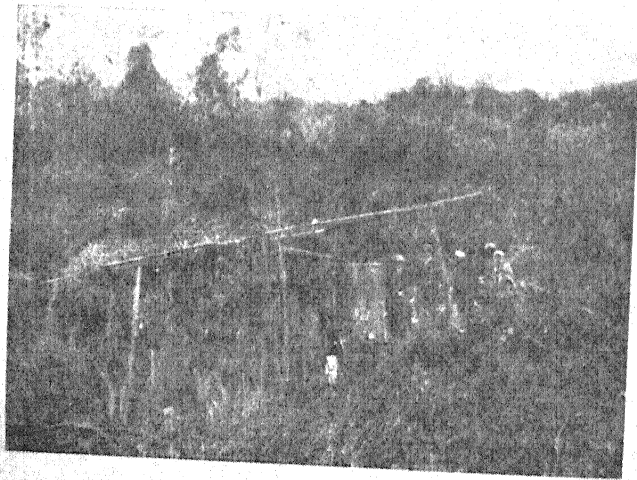
जङ्गलके भीतर यूकिलप्टसका तेल निकाला जा रहा है।

श्रेणीका प्रधान उपादान globulus है जिससे E glodulus तैयार होता है। द्वितीय श्रेणीके तेलकी मांग अधिक है इसलिये इसका दाम भी अधिक है । प्रथम श्रेणीका तेल धातु मिश्रित खनिज पदार्थों से सलफाइडको पृथक करनेके काममें लाया जाता है। नील गिरिके आस-पास बहुतसे छोटे-बड़े बगीचे हैं। कुन्नूर, लडमेल, उटकमन्ड आदि स्थानोंपर ये सभी लगाये गये हैं। प्रत्येक बड़े बगीचेके मालिकके पास तेल निकालनेका यन्त्र भी है। तेल यूक्लिप्ट्सकी पत्तीसे चुवाया जाता है। जिस बगीचेके मालिकके पास यन्त्र है यदि उसके पास :पेरनेके लिये काफी पत्तियां नहीं मिलतीं तो देहातोंसे या सरकारी बगीचोंसे पत्तियां खरीदकर उससे तेल निकालता है।

नीलगिरिमें यूक्लिप्टसके तेलका व्यवसाय १८८५ में प्रारम्भ हुआ। १८९१ में इन्फ्लुयेन्जा, महामारीके समय इस तेलका यथेष्ट प्रचार हुआ। गत महायुद्धके समय इसकी मांग बहुत बढ़ गई। उस समयतक देशकी उपज देशहीमें खप जाती थी। समय-समय पर मांगके अनुसार तेलको सप्लाई नहीं हो सकती थी। यह अवस्था देखकर इस व्यवसायकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ। देखते-देखते भारतवर्ष अन्य देशोंके साथ प्रतियोगितामें उतर पड़ा और यूक्लिप्सका तेल बाहर भेजने लगा। एक पौंड तेलके तैयार करनेमें अनुमानतः चार आना खर्च होता था। कलकत्ता और बम्बई ऐसे प्रधान बाजारोंमें एक रुपये पौंडकी बिक्री आसानीसे होने लगी और इस तरह मालिकोंको उचित लाभ भी मिलने लगा।

आलजियर्सके बगीचे भारतवर्षके बगीचोंसे २०-२५ वर्ष पुराने हैं। वहांके तेलका व्यवसाय आष्ट्रेलियाके व्यवसायके सात प्रति योगितामें खड़ा है। इसी दृष्टान्तको सामने रखकर यदि भारतवासी यूक्लिप्टसकी खेती और तेलके व्यवसायकी ओर और मन लगावें तो यह आशा की जाती है कि अवश्य ही उन्हें लाभ होगा और वे भी संसारके प्रबल प्रतियोगी हो सकते हैं। बंगाल ऐसे मलेरिया आक्रान्त प्रदेशोंमें तो यूक्लिप्टसको तुलसीके पौधेकी भांति घर-घर लगाना उचित है।

हिन्दुस्तानमें लोहेका व्यवसाय

दूसरी चीजोंकी तरह भारतवर्षमें लोहेका उद्योग बहुत पुराने समयसे हो रहा है। खनिज लोहेको साफ कर फौलाद बनानेकी प्रथा यहां बहुत दिनोंसे चली आ रही है। इस बातका प्रमाण मिलता है कि ईसाके १५० वर्ष पूर्व हिन्दुस्तानमें लोहेका कारबार होता था। बिहार व उड़ीसाके उदयगिरिका पहाड़ी मन्दिर, बुद्ध गयाका मन्दिर और अमरावती गुम्बजमें पर्याप्त चिह्न पाये जाते हैं। मुर्शिदाबादके नवाबके पासकी 'पिशे' बल्लम नामक एक बर्छी भी इसका प्रमाण है जिसके एक ओर विष्णु और दूसरी ओर गरुड़के चिह्न अङ्कित हैं। यह फौलादकी बनी हुई है। इसे लोग विक्रमादित्यकी बताते हैं। करनाटकके मंदिरमें लोहेके विशाल खम्भे हैं जो अपने अतीत गौरवकी स्मृति दिला रहे हैं। इस मन्दिरकी प्राचीनताके सम्बन्धमें फरग्यूस साहबका मत है कि इस का निर्माण ९ वीं शताब्दीके अन्तमें हुआ होगा परन्तु स्टर्लिङ्गका मत है कि यह सन १२८१ के लगभग बना था। मुर्शिदाबादवाली 'बचउली तोप' या 'बच्चावाळा' तोप भी उसी समयकी बनी है। दिल्लीके किलेवाला लोह-स्तम्भ भी एक अच्छा प्रमाण है।

देशमें लोहेके उद्योगकी गिरी हुई अवस्थाने वर्तमान पाश्चात्य पद्धतिके आधारपर अपनी उन्नति स्थापित कर रखी है। भारत-

वर्षमें वर्तमान पद्धतिका श्री गणेश सन् १८५७ ईस्वीमें हुआ ज
कि मिस्टर एन० सी० रिचर्डने बम्बईमें बाइकुल आयरन वर्क्स
ऐन्ड मेटल मार्ट नामकी कम्पनी खोली। देशमें और कम्पनियोंके
खुलनेके पहले इस कम्पनीने बहुत उन्नति की। पश्चिमीय भारत
में धीरे-धीरे मेसर्स ब्रेथवेट ऐन्ड कम्पनी, मुलन्दमें कारनाक
आयरन वर्क्स, डिफंस आयरन वर्क्स, डाक आयरन वर्क्स तारा-
चन्द मसानी ऐन्ड कम्पनी, डी० एम० दासवाला, ए० के० पटेल
एण्ड कम्पनी आदि बीसों कम्पनियाँ खुल गयीं। साथ ही पूर्वी
भारतमें भी लोहेके व्यवसायकी उन्नति प्रारम्भ हुई।

पूर्वीय भारतमें वर्तमान पद्धतिका आविर्भाव बाराकार कम्पनी
के १८७४ ईस्वीमें खुलनेके साथ हुआ। बादको १८८९ में इसीका
रूपान्तर बङ्गाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनीमें हो गया। यह
कारखाना ई० आई० आर० की ग्रेण्ड कार्ड लाइनपर आसनसोल-
के पास है। यहां लोहा गलानेकी भट्ठी और ढालनेके सांचे हैं।
भट्ठियोंमें काम आनेवाला कोयला झरियासे आता है। इसके बाद
'टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' श्रीयुक्त जे० एन० टाटा द्वारा
सन १९०७ में स्थापित की गयी। इसका काम जमशेदपुर
(सकची) में प्रारम्भ हुआ। ताता आयरन कम्पनी ही सबसे
पहली भारतीय कम्पनी है, जिसमें भारतीय धन और भारतीय
परिश्रमका पूर्ण रूपेण प्रयोग प्रारम्भ हुआ। सन् १९१३ से बिहार
और उड़ीसामें लोहा और कोयलाके अधिक परिमाणमें निकलनेसे
इसकी काफी उन्नति कम्पनीने एक राष्ट्रीय व्यवसायके नाते उस

की रक्षा करनेकी अपील टैरिफ बोर्डसे की। टैरिफ बोर्डने देखा कि रक्षाके लिये सभी उपयुक्त कारण ताता आयरन एण्ड स्टील कम्पनीको है इसलिये गवर्नमेण्टने उसे आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया। इस बाउन्टीके साथ ही बाहरसे आनेवाले लोहे-के सामानोंपर सरकारने संरक्षणक (Proctective duty) बढ़ा दिया। इसका फल यह हुआ कि इस व्यवसायको काफी उन्नति हो चली। लोहेकी तैयारी १६३००० टनसे ३८०००० टन होने लगी। इस व्यवसायकी जड़ अब इतनी जम गई कि उम्मेद है कि १९३३-३४ में ६००००० टनतक लोहा देशमें तैयार होगा।

इस कम्पनीकी खान मयूरभञ्ज राज्यमें है। इन खानोंको सर्व प्रथम मि० पी० ऐन० बसुने खोज निकाला और ताता कम्पनीको इसकी सूचना दी। कम्पनीने अमेरिकासे भूगर्भ-विद्या-विशेषज्ञ, दो इञ्जिनियरोंको बुलाकर इन खानोंकी परीक्षा करायी और फिर इस कारखानेका आयोजन किया गया। इस राज्यमें लगभग १२ लोहेकी बड़ी खानें हैं जिनमेंसे गुरुमैशिनी, ओमामद और बदम पहाड़ोंकी खानेंसबसे बड़ी हैं। इस कम्पनीको सभी खानें राम-पुर और दुर्ग जिलेमें हैं।

ताता कम्पनीका कारखाना बहुत ही बड़ा है। वह अपनी विद्युत शक्ति उत्पन्न कर अपना समस्त कार्य उसीसे करती है। इसमें आधुनिक जगतकी थाती स्वरूप ऊंची-से-ऊंची यांत्रिक सुविधाओंका यथेष्ट समावेश किया गया है। यहां सभी प्रकार का लोहेका सामान बनता है और रेलवे कम्पनियोंके काममें आने

योग्य लोहेकी फौलादी रेलवे लाइनें भी ढाली जाती हैं। इस कारखानेमें मैगनीज तैयार किया जाता है और उसीकी सहायतासे फौलाद बनाया जाता है।

इसके अलावा बंगालमें और भी बहुतसे लोहेके बड़े-बड़े कारखाने हैं। मेसर्स बर्न ऐन्ड कम्पनी लि० हवड़ाको हवड़ावाला कारखाना पुल बनाने और इमारती सामान तैयार करनेका काम करता है। इसके कलकत्तेवाले फोनिक्स वर्क्समें इञ्जिन बनानेका काम होता है। रीलिङ्ग वर्क्स गार्डनरीच कलकत्ते वाले कारखानोंमें पहिये और धुरेको छोड़कर डब्बोंके सभी भाग इसीमें बनाये जाते हैं।

गवर्नमेण्ट गन ऐन्ड शेल फैक्टरी काशीपुर और ईशापुरमें छः हजारसे अधिक श्रमजीवी काम करते हैं। इनमें बन्दूक, राइफलें तथा गोले बनते हैं। यूरोपीय युद्धसे इन कारखानोंकी अच्छी उन्नति हुई है।

ई० आई० आर० वर्कशाप जमालपुरमें रेलवे सम्बन्धी पटरियोंको छोड़कर शेष सभी प्रकारका काम होता है। इसके लिये उत्तम श्रेणीकी यांत्रिक व्यवस्था की गई है। लोहेकी चद्दरें भी तैयार की जाती हैं। कारखाना ६६ एकड़ भूमिपर फैला है। बङ्गालमें ई० आई० आर० वर्कशाप लिलुआ, ई० बी० स्टोर रेलवे इंजिनियरिङ्ग वर्कशाप कचरापाड़ा, मेसर्स जे० एच० किङ्ग और कम्पनी इंजिनियरिङ्ग वर्क्स हवड़ा, हुगली डाकिंग ऐन्ड इंजिनियरिंग कम्पनी, गैन्जेज इंजिनियरिंग वर्क्स हवड़ा, मेसर्स टर्नर,
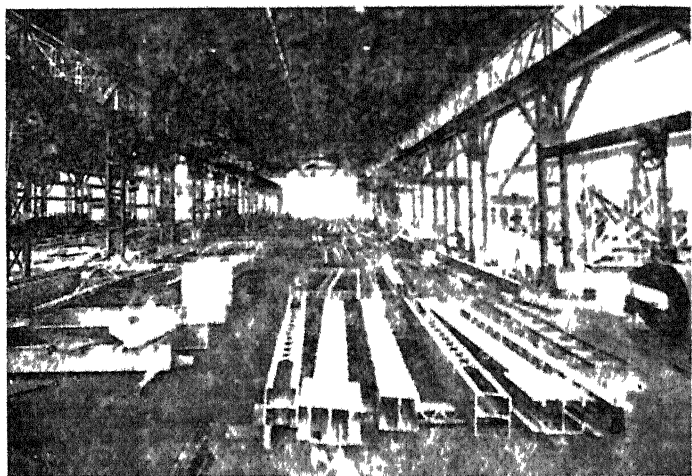
मेसर्स ब्रेथवेट एण्ड कम्पनी मुलन्दका भीतरी दृश्य ।
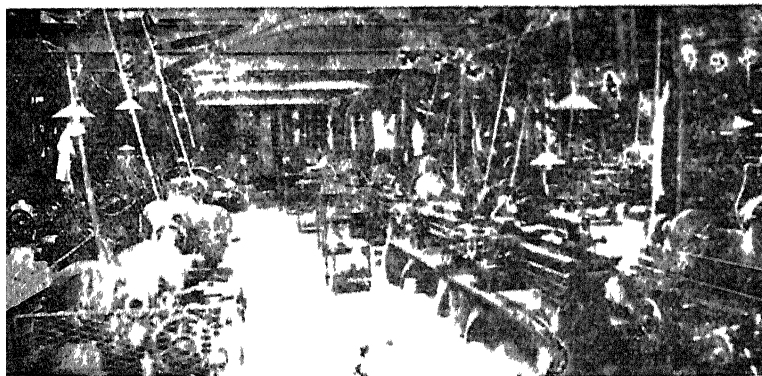
एकमी मैनुफैक्चरिंग कम्पनी वर्क्सका भीतरी दृश्य ।

मौरीसन ऐन्ड कम्पनी शिप बिल्डिंग यार्ड्स शालीमार आदि बड़े-बड़े कारखाने हैं।

बम्बई प्रान्त और बम्बई शहरमें भी बहुतसे लोहेके कारखाने हैं। एकमी मैनुफैक्चरिंग कम्पनी बम्बई शहरका एक प्रधान फर्म है। इसे मेसर्स गोबर्धनदास मंगलदासने स्थापित किया था दो वर्ष बाद मेसर्स मथुरादास मसानजी ऐन्ड कम्पनीने और भी धन लगाकर इसको बड़ी उन्नति की। स्वदेशी फर्म होनेके कारण इसके मालोंकी बड़ी खपत हुई। कम्पनीने भी अच्छा माल तैयार करनेको ओर विशेष ध्यान दिया। इस फर्मसे जितनी चीजें बाहर भेजी जाती हैं वे सभी अच्छी तरह देख-सुन ली जाती हैं। बम्बईका न्यू कौंसिल हाल, करांची और पूनेका ज्युडिशियल कोर्ट, किंग एडवर्ड मेमोरियल अस्पताल, और बम्बईका वादिया मेटर्निटी अस्पताल एकमी मैनुफैक्चरिंग कम्पनीके ही बनाये हुए हैं।

यूरोपीय युद्धके समयमें बम्बईके इंजिनियरिंग फर्मोंने बड़े जोरोंको उन्नति की। उनकी संख्या भी बड़े जोरोंसे बढ़ने लगी। किन्तु महासमरके बादके आर्थिक संकटमें बहुतसे फर्म बन्द हो गये, कुछ बुरी हालतमें हैं और कुछ किसी तरह अपना काम चला रहे हैं। युद्धके समय बम्बईकी जनसंख्या बहुत बढ़ गई। इसलिये दूर हटकर एक व्यावसायिक नगर बनानेकी आवश्यकता पड़ी। अम्बरनाथमें जगह निश्चित की गयी। काटन मिल और इंजिनियरिंगकी बहुत मशीनें वहां उठाकर चली गईं। ब्रेथवेट

कम्पनीने अपना कारखाना मुलन्दमें स्थापित कर लिया। गवर्नमेण्ट और म्युनिसिपैलिटीका ठीका लेनेसे इस कम्पनीको भी बहुत फायदा हुआ।

भारतवर्षमें लोहेके व्यवसायने काफी उन्नति की है। बाहरसे आनेवाले लोहेके मालोंमें बहुत कमी ही नहीं हुई है बलिक भारतवर्ष अब अफ्रिका और पूर्वी एशियामें लाखों रुपयेका इंजिन मशीन और इमारती सामान भेजता है।

देशके विद्यालयोंमें लोहेकी औद्योगिक शिक्षाके प्रचारके लिये अभीतक यथेष्ट सुविधायें नहीं हैं। कारखानोंमें कार्यदक्ष होकर कितने ही श्रमजीवी उन्नति कर गये हैं परन्तु स्कूल और कालेजोंमें इस प्रकारकी शिक्षा देनेका अभी तक पर्याप्त प्रबन्ध नहीं हो पाया है। शिवपुरके सिविल इंजिनियरिंग कालेजमें मैकेनिकल इंजिनियरिंग विभाग है जिसमें लोहेके गलाने, लोहारका काम करने और खराद आदि चढ़ानेका काम सिखाया जाता है। ढाका इंजिनियरिंग कालेज, बर्द्वान टेकनिकल स्कूल, भागलपुर स्कूल, ढाका कालेजियेट स्कूल, रंगून टेकनिकल स्कूल, पबना टेकनिकल स्कूल, कोमिला टेकनिकल स्कूल, बैरीसाल टेकनिकल स्कूल, मैमनसिंह स्कूल, विक्टोरिया स्कूल कार्सियांग आदि पूर्व भारतके स्थानोंपर कुछ विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। रुड़की और हिन्दू-विश्वविद्यालयमें इंजिनियरिंगकी अच्छी शिक्षा होती है। फिर भी और स्कूलों और कालेजोंकी बड़ी जरूरत है।

भारतमें कोयलेका व्यवसाय
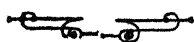
संसारकी अन्तर्राष्ट्रीय रीति-नीतिमें कोयलेने आश्चर्य-जनक उथल-पुथल मचा रखी है। आज जिस देशमें जितना ही अधिक कोयला होता है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली माना जाता है। यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य कबसे कोयलेको काममें लाने लगे। सबसे पहले यूनानके थियोफ्रेट्स नामके एक व्यक्तिने ईस्वी सन्से २०० वर्ष पूर्व पत्थरके कोयले-को काममें लाना प्रारम्भ किया था। जिस समय रोमन लोगोंने बृटेनपर आक्रमण किया था उस समय बृटेनमें कोयला भी खानसे निकाला जाता था। सन् १२३९ ई० में सबसे पहले कोयला निकालनेका अधिकार-पत्र बृटेनमें ही लिया गयाथा। उस समय वहांके लोग उसे समुद्रका कोयला (Sea-coal) कहते थे। सन् १३२५ ई० में बृटेनने प्रथम बार निर्यातके रूपमें अपना कोयला फ्रांस भेजा। तबसे पत्थरका कोयला बृटेनके व्यापारका प्रधान अङ्ग माने जाने लगा। इङ्गलैण्डमें इसके कितने ही केन्द्र स्थापित हो गये। तेरहवीं शताब्दीमें ही जर्मनी और फ्रांसने कोयलेकी ओर विशेष ध्यान दिया। इस प्रकार यूरोपमें पत्थरके कोयलेके व्यापारने अच्छी उन्नति की। भारतमें रहनेवाले यूरोपियन समु-दायने भी भारतमें कोयलेकी खानें खोज निकालनेका भारी यत्न

किया। उन्हींके उद्योगका फल है कि भारतमें कोयलेका व्यापार चल पड़ा।

भारतमें रहनेवाले यूरोपियनोंकी आखें भारतमें कोयलेकी खान खोज निकालनेके लिये इधर उधर घूम रही थीं कि वारेन हेस्टिंग्सके समयमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीके दो कर्मचारियोंने कोयलेकी खानें खोज निकालनेकी आज्ञा मांगी। फलस्वरूप उन्हें आज्ञा-पत्र मिल गया। खोजते-खोजते उन्होंने बङ्गालके बीरभूमि जिलेमें एक जगह कोयलेकी खान ढूंढ़ निकाली। पता लगानेवालेका नाम एस० जी० हिटली था। मि० हिटली और उनके साथी मि० जान समरने अव्यवस्थित रूपसे कोयला निकालनेका काम आरम्भ कर दिया। लार्ड कार्नवालिसके शासन-कालमें इन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। सन् १७७७ ई०के एक ऐतिहासिक प्रमाणके आधारपर पता चलता है कि मि० फारग्यूहर और मोथेने उक्त सन्में तोप ढालने और गोला-बारूद बनानेके लिये सरकारसे आज्ञा मांगी थी जिसके सम्बन्धमें उन्होंने अपने प्रार्थना पत्रमें लिखा था कि झरियाके भूखण्डमें मेसर्स समर एण्ड हिटलीकी कोयलेकी खानें हैं। पास ही लोहेकी खानोंसे लोहा भी निकलता है।

उसी समय ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डायरेक्टरोंने सैनिक सामग्रीकी ढलाईके कामके लिये भारतीय कोयलेकी जांच करानेका काम आरम्भ किया। लार्ड मिण्टोने जांच करानी आरम्भ की, किन्तु उचित ढङ्गसे परीक्षा न हो सकी। कलकत्तेके

व्यापारी अब इस व्यापारकी ओर जी-जानसे लग गये थे। कोयल की खानोंसे कोयला नावोंपर लादकर दामोदर नदीके जल-मार्गसे बराबर कलकत्ता आता रहा व्यापार जोर पकड़ता गया। फलतः लार्ड वेलेस्लीको भारतके कोयलेकी पुनः परीक्षा करानी पड़ी। विद्वान विशेषज्ञ मि० रुपर्ट जोन्सने सन् १८१५ ई०में अपनी परीक्षाकी रिपोर्ट प्रकाशित कर कोयलेके पक्षमें अपनी अनुकूल सम्मति प्रकट की। सरकारने भी आपकी परीक्षा सम्बन्धी रिपोर्टका समुचित सत्कार किया और आपको खानोंसे कोयला निकालनेके लिये चार हजार पौण्डकी पूंजी भी दी। किन्तु कलकत्ते के व्यापारियोंके साथ प्रतियोगितामें वे ठहर न सके। भारतीय व्यापारियोंने कोयला निकालनेके व्यावहारिक क्षेत्रमें साहसके साथ प्रवेश किया और फलतः रानीगंजके कोयला क्षेत्रमें कार्यारम्भ किया गया। सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनीने अपनी रेलवे लाइन भी इसी कोयला क्षेत्रसे निकालकर इस खानके समीप रेलवे स्टेशन बना दिया। फिर शीघ्र ही कलकत्ते में जूट मिलोंकी स्थापना होने लगी। अतः भारतीय कोयलेकी खानोंकी बड़ी उन्नति हुई।

कोयलेकी खानोंका जन्म दलदली भूमिके सघन जंगलोंके आकस्मिक भूगर्भमें धँस जानेसे हुआ। भूकम्प आनेसे वृक्ष गिर पड़ते और दलदली भूमिमें धँस जाते हैं। ऊपरसे पानी पड़नेपर मिट्टी बनस्पतियोंके चारों ओर लग जाती है। इन समाधियोंपर मिट्टीके जमा होनेसे वहां फिर नये वृक्ष अंकुरित होते हैं। फिर

भूकम्प होता है और यही किया होती है। फलतः दलदली जगहोंमें मिथेन (Methane) और कारबन डाई आक्साइड गैस अपना-अपना कार्य करनेमें जुट जाती हैं। जमीनकी गर्मी, चारों ओरका दवाव आदि शक्तियां मिलकर सामूहिक रूपसे दबी हुई बनराशि-पर शीघ्रतासे रासायनिक कार्य करने लगती है और उसके स्वरूप-को परिवर्तित कर उसके वाह्य आकार-प्रकारको कुछ-का-कुछ कर देती है। बनस्पतिकी लकड़ीसे सेल्यूलस (Cellueles) के और पश्चात् क्रमानुसार मूलतत्वोंमें परिवर्तित होकर पहले पत्थरके कोयलेके रूपमें वह बनराशि प्रकट होती है।

भारतमें निकलनेवाले पत्थरके कोयलेका ९७॥ प्रतिशत भाग ऐसी पद्धतिकी खानोंसे निकलता है जिनके कोयलेको गोंडवाना सिस्टम (Gondwana system) का कोयला कहते हैं। भारतका प्रधान कोयला-क्षेत्र रानीगंज और झरिया है। भारत-की खानोंसे निकलनेवाले पत्थरके कोयलेका ८३ प्रतिशत माल इन्हीं दो क्षेत्रोंसे निकलता है। हैदराबाद स्टेटके सिंगनेरी स्थानमें भी कोयलेकी बड़ी खान है। इनके अतिरिक्त वर्धा और पेंचकी घाटी सी० पी० में, उमरिया रीवां राज्यमें, माकुम आसाममें, और झेल-जिला पंजाबमें भी कोयलेकी खानें हैं।

रानीगंज कलकत्तेसे १४० मील दूर है। इन खानोंसे कोयला रेलवे और स्टीमरोंके द्वारा कलकत्ते आता है। रानीगंजसे ४० मील दूर झरियाका कोयला क्षेत्र है। इन दोनोंके बाद गिरिडीह-की खानका स्थान माना जाता है। इन तीनों ही खानोंका

कोयला परिमाणमें एक-से-एक बढ़कर निकलता है। यह भारतकी कोयलेकी कुल उपजका १७ प्रतिशत माना जाता है। इस औद्योगिक कार्यसे दो लाखके लगभग मजदूरे अपना पेट पालते हैं। फिर भी श्रमजीवियोंकी मांग वहां बनी ही रहती है। कभी-कभी तो आदमियोंकी कमीके कारण माल भी कम निकलता है। इन खानोंमें सभी प्रकारके काम करनेके लिये आधुनिक यन्त्र सामग्रीकी व्यवस्था की गयी है। बिजलीके बहुतसे केन्द्र भी खोले गये हैं। कोयलेसे दूसरे प्रकारके उपयोगी पदार्थ तैयार करनेकी व्यवस्था भी की गई है।

भारतके कोयलेके व्यवसायके सम्बन्धमें लार्ड कर्जनने जो विचार झरिया कोयलेकी खानोंको देखकर प्रकट किया था वह ध्यानमें रखने योग्य है। उन्होंने कहा था कि सिंगापुर और स्वेज नहरके बीचका ही एक मात्र ऐसा क्षेत्र है जहां भारतके पत्थरके कोयलेकी मांग बहुत अधिक बढ़ सकती है। आपने आशा की थी कि इस विस्तृत क्षेत्रपर भारतका कोयला अवश्य ही अपना अधिकार जमानेके लिये सिर तोड़ परिश्रम करेगा।

भारतमें खानोंकी खोदाईका काम सन्तोषप्रद नहीं होता। यहांकी खानोंमें काम करनेवाले मजदूर अधिकतर किसान होते हैं। वे लोग काम करनेकी इच्छासे खानोंमें नहीं आते बल्कि जब खेतोंमें कुछ नहीं मिलता तब बाध्य होकर वहां आते हैं। ऐसी दशामें माल यथेष्ट मात्रामें नहीं निकल सकता। यद्यपि आजकल खानोंमें यांत्रिक व्यवस्था कर दी गई है किन्तु कोयलेका

भाव कमजोर रहनेके कारण इस उद्योगमें विशेष रूपसे लाभ नहीं होता। इसकी अवस्था सुधारनेके लिये आवश्यक तो यह है कि भारतके घरेलू उद्योग-धन्धोंको प्रोत्साहन दिया जाय। तब कम कीमतके भारतीय कोयलेकी अधिक खपत होगी। कोयलेकी अधिक खपत होनेपर खानवालोंको भी लाभ होगा। साथ ही कारखाने वालोंको कम कीमती कोयलेसे अच्छी सुविधा मिलेगी।

प्रायः भारतीय व्यापारियोंका कोयला विदेशके लिये कलकत्ते के बन्दरसे ही रवाना होता है। भारतके कोयलेके प्रधान खरीदारोंमें लंका और स्ट्रेट सेटिलमेंटकी ही अधिक ख्याति है। इनके बाद सुमात्रा और सवाङ्गका स्थान माना जाता है। ये दोनों ही जहाजी बन्दरोंमें सुदूर पूर्वकी यात्रा करनेवाले जहाजसे कोयला लेते हैं।

यद्यपि भारतीय कोयलेका अधिक हिस्सा कलकत्ता बन्दरसे ही विदेश जाता है फिर भी बंकर कोल कोयला कलकत्ता, बम्बई, करांची, रंगून और मद्रासके बन्दरोंसे बाहर भी भेजा जाता है। इस प्रकारके कोयलेकी खपत जल-सेनामें अधिक होती है।

कोक पत्थरके उस कोयलेको कहते हैं जिससे गैस निकाली जाती है। इस प्रकारका कोयला भारतमें बिहार और उड़ीसाके कोयला क्षेत्रमें तैयार किया जाता है। भारतसे यह कोयला बहुत थोड़े परिमाणमें सीलोन और स्ट्रेट सेटिलमेंट जाता है। शेष अधिकांशकी खपत मैसोपोटामियामें होती है।

भारतवर्षमें सस्ता कोयला इतना होता है कि देशकी आवश्यकताकी पूर्ति कर वह विदेशमें भी भेज सकता है। फिर भी बाहरसे मंहगे कोयले भारतमें आते हैं। विदेशसे आनेवाले कोयलेमें सबसे अधिक कोयला क्रमसे बृटेन, नेटाल, पुर्तगाल, पूर्व अफ्रिका, जापान, हालैण्ड और आस्ट्रेलियासे भारत आता है। कम किरायेके कारण भारतके बाजारमें देशी कोयलेसे मुकाबिला करनेमें दूर देशोंका कोयला सफल होता है।

भारतके बाजारोंमें पत्थरके कोयलेका ३०.८ प्रतिशत भाग तो रेलवे कम्पनियां काममें लाती हैं। और २२.५ प्रतिशत छोटे छोटे घरेलू उद्योग और घरेलू काममें व्यवहार होता है। १२.०३ प्रतिशत कोयलेकी खानें और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले कामोंमें खर्च होता है। १२ प्रतिशत लोहा गलानेकी भट्ठियों और पीतल तथा अन्य प्रकारकी धातुओंके कारखानोंमें खर्च होता है कपड़ेकी मिलोंमें ५.६ प्रतिशत तथा जूट मिलोंमें ४.७ प्रतिशत खर्च होता है, भारतमें लगभग २०२,८२०१० टन कोयला (देशी व विदेशी) उपलब्ध रहता है।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि कोयला वास्तवमें पदार्थोंकी दृष्टिसे सर्वोपरि है। विज्ञानकी उन्नति और कला-कौशल सम्बन्धी सुधार भाफ और कोयलेके महत्वपूर्ण प्राधान्यकी ओर वृद्धि करेंगे।

❀ समाप्त ❀

२५—तिब्बतमें तीन वर्ष

लेखक—जापानी यात्री श्रीइकाई कावागुची

यह प्रसिद्ध यात्री कावागुचीकी तिब्बत यात्राका बड़ा भयानक विवरण है। इसमें ऐसी ऐसी घटनाओंका विवरण मिलेगा जिनका ध्यान करनेसे ही कलेजा कांप उठता है, साथ ही ऐसे रमणीक स्थानोंका चित्र भी आपके सामने आयेगा जिनको पढ़कर आनन्दके सागरमें लहराने लगेंगे। दार्जिलिङ्ग, नेपाल, हिमालयकी बर्फीली चोटियां, मानसरोवरका रमणीय दृश्य तथा कैलास आदिका सविस्तर वर्णन पढ़कर ही आप आनन्दलाभ करेंगे। इसके सिवा वहांके धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक अवस्थाओंका भी पूर्ण हाल विदित हो जायगा। ५२५ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य २॥) सजिल्द ३)

२६—संग्राम

लेखक—उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

प्रेमचन्दजीकी कुशल लेखनी द्वारा यह 'संग्राम' नाटक लिखा गया है। यों तो उनके उपन्यासोंमें ही नाटककासा मजा आता है, फिर उनका लिखा नाटक कैसा होगा यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत नाटकमें मनोभावोंका जो चित्र खींचा गया है वह आप पढ़कर ही अंदाजा लगा सकेंगे। बढ़िया एण्टिक कागजपर प्रायः २७५ पृष्ठोंमें छपी पुस्तकका मूल्य केवल १॥)

२७—चरित्रहीन

लेखक—श्रीयुक्त शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

यह शरद् बाबूके बङ्गला चरित्रहीनका अनुवाद है। युवा पुरुष बिना देख-रेखके कैसे चरित्रहीन हो जाते हैं, सच्चा स्वामिभक्त सेवक कैसे दुर्व्यसनके पञ्जोंसे अपने मालिकको छुड़ा सकता है, पति-पत्नीका प्रेम, पतिव्रताकी पति-सेवा और विधवा स्त्रियां दुष्टोंके बहकावेमें पड़कर, कैसे धर्मकी रक्षा करती हैं, इन बातोंका पूर्ण रूपसे दिग्दर्शन कराया गया है। पृष्ठ ६६४ जिल्दसहित मूल्य ३॥)